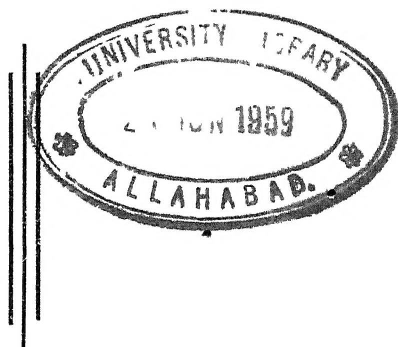
इंगलैण्ड क

(बेन्थम से जान स्टुअर्ट मिल तक के उ
विचार का क्रमिक अध्ययन)



विलियम एल० डेविडसन



किताब महल, इलाहाबाद : दिल्ली
१९५८

ऑंग्रेजी संस्करण

सन् १९१५ में सर्वप्रथम मुद्रित तथा सन् १९२५, १९३१, १९३३ १९३५, १९४२, १९४४, १९४७ तथा १९५० में पुनर्मुद्रित।

प्रथम हिन्दी संस्करण

१९५८

ज्योफ्रे कम्बरलीज लिमिटेड, आक्सफ़ोर्ड प्रेस, लन्दन, न्यूयार्क, टॉरण्टो द्वारा प्रकाशित विलियम एल० डेविडसन की रचना Political Thought In England, From Bentham To Mill का लक्ष्मीकांत वर्मा द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद।

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए जीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—जीवन कल्याण प्रेस, त्रिवेणी रोड, इलाहाबाद।

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

१. उपयोगितावादी-अवस्थान (Utilitarian Position) १

२. जर्मी बेन्थम : उसकी जीवनी और कृतित्व (His Life and Writings) २४

३. बेन्थम एक नीतिशास्त्री के रूप में (Bentham as Moral Philosopher) ३७

४. बेन्थम के सामाजिक और राजनैतिक विचार : उसका साधारण अवस्थान; शासन-सम्बन्धी सिद्धांत; विधायक, राजनैतिक अर्थशास्त्र (Bentham as a Social and Political Thinker : His General Position : Theory of Government, Legislation; Political Economy; Education) ६०

५. बेन्थम न्यायशास्त्री और कानून सुधारक के रूप में : कानूनी सुधार; दण्ड और जेल। ७८

६. जेम्स मिल : उसकी जीवनी, मनोवैज्ञानिक सम्बन्धी विचार, शिक्षा सम्बंधी विचार। ९७

७. जेम्स मिल : राजनैतिक नेता और न्यायशास्त्री के रूप में : उसके शासन-सम्बंधी सिद्धांत, राजनैतिक अर्थशास्त्र; न्यायशास्त्र एवम् अन्तर्राष्ट्रीय कानून सम्बंधी विचार। ११४

८. जान स्टुअर्ट मिल : उसकी जीवनी और कृतित्व, राजनीति तर्कशास्त्र; नीतिशास्त्र। १३६

९. जान स्टुअर्ट मिल : राजनैतिक अर्थशास्त्र; मनोविज्ञान और ज्ञान-सम्बंधी सिद्धांत; स्त्रियों के अधिकार। १६३

१०. जान स्टुअर्ट मिल : स्वाधीनता या व्यक्ति अस्तित्व के प्रति आग्रह; प्रतिनिधि शासन सत्ता। १८७

११. जार्ज ग्रोट : जान आस्टिन, अलेक्जेण्डर बेन। २०५

१२. पुस्तक-सूची २१९

अध्याय १

उपयोगितावादी अवस्थान

(Utilitarian Position)

सामान्यतः लेखकों, विद्वानों और दार्शनिकों द्वारा उपयोगितावाद (Utilitarian) का प्रयोग ठीक उसी संदर्भ में किया जाता है जैसे वह विषयासक्तवाद (Epicureanism) की भाँति पूर्णतया चरम विकसित हो चुका है और उसके संस्थापकों ने उपयोगितावाद (Utilitarianism) के विषय में अन्तिम बात कह कर उसकी थाती को ठीक विषयासक्तवादी (Epicureans) दार्शनिकों की भाँति अपरिवर्तनशील रूप में चिर-स्थायी बना दिया हो। जहाँ तक उपयोगितावाद का प्रश्न है वह अन्य बहुत से दार्शनिक विचार-पद्धतियों की भाँति अभी भी विकासशील है। उसका विकास अत्यन्त स्पष्ट किन्तु नियमित दृष्टि के साथ हुआ है। इसलिए उसके विकास में सहानुभूत्यात्मक विवेचना और आत्म-प्रेरणा से परिचालित ऐसे अनेक व्यक्तियों की सह-अनुभूति की आवश्यकता है जो उसके दृष्टिकोण को अधिक विस्तृत और परम्पराओं को अधिक उपेक्षित करते हुए उसके अतिवादी रूपों को बहिष्कृत करके उसे नई ज्योतियों और स्थितियों के साथ सम्बद्ध करने में सफल हो सकें। वस्तुतः आज उपयोगितावादियों का एक मतवाद (School) अथवा संस्थागत रूढ़ि ठीक उसी प्रकार विकसित हो गई है। जैसे नैतिक-वादियों (Moralists) ने अपने वैयक्तिक धारणाओं के अद्भुत निष्कर्षों के अनुरूप नैतिक मतवादी संस्थाओं को जन्म दे दिया है। नैतिकवादियों की भाँति उपयोगितावाद की विभिन्नता भी विभिन्न मतवादों के परिवेष

में एक दूसरे से पृथक् किन्तु साधारण मूल सिद्धान्तों से प्रेरित होकर अपने साधारण विचारों द्वारा अपने पक्ष को प्रौढ़ता प्रदान कर रहा है। प्रमाण के लिए बेन्थम और जान स्टुअर्ट मिल के ही विचारों को यदि देखा जाय तो जितनी विभिन्नता इन दोनों विद्वानों के विचारों में पाई जाती है, शायद उतनी ल्यूकरेटस (Lucretius) द्वारा इपिक्यूरस (Epicurus) के विचारों के प्रस्तुतकरण में भी नहीं होगा। इसके विपरीत ल्यूकरेटस ने इपिक्यूरस के विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए उसे स्थापित करने की चेष्टा की है जब कि जान स्टुअर्ट मिल ने बेन्थम के विचारों से भिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं।

इतना मतभेद होते हुए भी उपयोगितावादियों (Utilitarians) में फिर भी एक व्यापक स्तर पर दृष्टिकोणों में इतनी समानता है जब कि वह उन्हें एक सहधर्मा भाव से कार्य करने और सैद्धान्तिक एकता की अनुभूति प्रदर्शित करने की शक्ति देती है। अस्तु, प्रस्तुत संदर्भ में उपयोगितावाद के भाव पक्ष का विश्लेषण करते हुए और उनके प्रमुख मत् साम्यों के व्यापक अध्ययन को प्रस्तुत करते हुए सम्पूर्ण उपयोगितावाद का अध्ययन करना अधिक श्रेयस्कर होगा।

अस्तु, यद्यपि उपयोगितावाद (Utilitarianism) का प्रयोग राजशास्त्र और नीतिशास्त्र में अति आधुनिक रूप में किया जाता है। किन्तु मूलतः उपयोगितावाद जिस विषयवस्तु का प्रतिनिधित्व करता है वह अतीव प्राचीन है। अर्थात् उपयोगितावाद मानव जाति की कल्याण भावना (Welfare) की अभिरुचि का परिचायक है। इसका नैतिक आग्रह मानव जीवन के उत्थान और विवेकपूर्ण सिद्धान्तों के विकास सम्बन्धी रचनात्मक एवं व्यावहारिक तत्वों को विकसित करने पर है। साथ ही साथ इसका आग्रह उन क्रियाशील राज्य विधायकों के प्रति भी है जो सामूहिक जीवन को उत्थान की दिशा दे सके। उपयोगितावाद के सभी विचारक भावना-प्रधान नहीं रहे हैं। अधिकांश का आग्रह बौद्धीय स्तर का रहा है और यही कारण है कि इस विचार पद्धति में अधिकांश सूत्रधारों में भावुकता की अपेक्षा बौद्धिकता अधिक पाई जाती है। हाँ,

प्रायः सभी विचारक मध्यान्तर से व्यापक कल्याण की लक्ष्य-भावना से परिचालित अवश्य होते रहे हैं और वे सदैव अपनी भ्रामक कल्याण की भावना को विकसित करने में प्रयत्नशील भी रहे हैं। उपयोगितावादी विचारकों का नाम जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) के बाद ही प्रमुख रूप में प्रयोग किये जाने लगे हैं। तभी से इन विचारकों का उल्लेख बराबर होता आया है। जान स्टुअर्ट मिल का यह कभी भी दावा नहीं रहा है कि वह उपयोगितावाद (Utilitarianism) के मूल प्रवर्त्तक हैं। इसके विपरीत उनका यह कथन है कि उन्होंने गाल्ट द्वारा रचित अनल्स आव दि पारिश (Annals of the Parish) (देखिये जान स्टूअर्ट मिल द्वारा लिखित यूटिलिटेरियनिज्म (Utilitarianism) के अध्याय दो का फुट नोट) के विचारों को संग्रहीत करके विकसित किया है। किन्तु यह भी संभव है कि वह स्वयं गाल्ट (Galt) के मतों को सीधा अपने प्रयोग में न लाया हो। वरन् उसने उसको बेन्थम (Bentham) के पुस्तकों से ग्रहण किया हो क्योंकि बेन्थम के लेखों में गाल्ट का उल्लेख दो बार आया है। बात जो भी हो चाहे गाल्ट का नाम जैसे भी मिल तक आया हो। यह सत्य है कि गाल्ट का नाम समकालीन दार्शनिकों के प्रति घातक होने के लिए पर्याप्त था क्योंकि उस समय भी दार्शनिक पद्धति मानव कल्याण की भावना से विकसित विचारधारा को केवल और साधारण स्तर की सुधारवादी वस्तु मानते थे। दार्शनिक स्तर पर उसे महत्वहीन समझते थे। प्लेटो के मतानुसार वे दार्शनिकों को एक अभिजात्य प्रकार का ऐसा व्यक्ति मानते थे जो दर्शन के अतिरिक्त क्षेत्रों के सम्बन्ध में अनभिज्ञ (Innocent abroad) होता है और जब संसार-व्यापार के सम्पर्क में आता है तो साधारण नागरिक दायित्वों के निर्वाह एवं व्यापार में वह स्वयं भी हास्यास्पद हो जाता है और साथ ही अपना मज़ाक भी बना लेता है। जिस संसार में दार्शनिक रहता है वह सूक्ष्म तत्वों की कल्पनाजनित प्रतिभावनाओं (Abstract Speculation) का होता है न कि स्थूल (concrete) गतिशील संसार जिसमें नित्य प्रति के संघर्ष और आतंक होते हैं। प्लेटो के विचारा-

नुसार उस काल के दार्शनिक यह मानते थे कि स्थूल एवम् इस कटु संसार के प्रति दार्शनिक का कोई ज्ञान नहीं होता है। यही नहीं, परम्परा के अनुसार वे यह भी मानते थे कि दार्शनिक के लिए अपने पास-पड़ोस के निकटवर्त्ती पड़ोसी को भी जानना अनिवार्य नहीं है। अर्थात् वह ऐसा प्राणी है जो सामाजिक घटनाओं से पूर्णतः अपरिचित और अनभिज्ञ तो होता ही है साथ ही वह उसके लिए आवश्यक भी नहीं है। कभी-कभी जब विवशता के कारण वह साधारण जीवन-व्यापार में भाग लेता है तो अपने को मूर्खतापूर्ण स्थिति में ही पाता है। अर्थात् वह (दार्शनिक) प्रत्येक व्यक्तिगत या व्यापक अवसरों पर जब कभी न्यायालय या किसी ऐसे स्थान पर बोलने के लिए विवश होता है जहाँ उसे केवल प्रत्यक्ष आँखों के सामने और पैरों के नीचे भी ठोस वस्तुओं पर बोलना अनिवार्य होता है तो थरैशियन (Thracian) महिलाओं द्वारा निन्दित जोकर की भाँति (जैसा कि उस कथा में वर्णित है) न व्यवहार करके ऐसे जन-व्यवहार का परिचय देता है कि ऐसा लगता है कि वह मात्र अपनी अनुभवहीनता के कारण किसी कूप में डूब-उतरा रहा है।"

—थियटियट्स [Theatetus]

इसके बिल्कुल विपरीत उपयोगितावादी विचारकों के लक्षण हैं। उनकी मुख्य रुचि बौद्धिक सत्यों को जानने में है। किन्तु यह होते हुए भी वह जीवन, उसकी आवश्यकताओं और समस्याओं को प्रमुख स्थान देता है। उसका उद्देश्य जीवन के आनन्द और उसके उल्लास को ग्रहण करना है। इसलिए वह उन तत्वों में भी रुचि रखता है जो उस आनन्द और उल्लास को विभिन्न रूपों में प्रभावित करती है। वह संघर्षरत सृष्टि के प्रति निरपेक्ष नहीं हो पाता वरन् वह संघर्षों में ही तुष्टि पाता है। उसे सूक्ष्म (abstract) की अपेक्षा स्थूल (concrete) अधिक आकर्षित करता है। मानव के सामाजिक रूप का चित्र उसकी कल्पना में एकान्तवासी विचारक की अपेक्षा अधिक मूल्यवान होकर आता है। वह स्वभाव, प्रकृति और विश्वास से ही व्यावहारिक (Pragmatist) और स्थूल के प्रति उन्मुख होता है। वह प्रायः

विचारों के उपयोगी एवम् मानव इच्छाओं की परिधि में रखकर मूल्या-न्वेषण की चेष्टा करता है जिसके लिए मनुष्य संघर्ष करते-करते थक जाता है। अर्थात् इन समस्त विवेचनाओं का एकमात्र अर्थ यह है कि उपयोगितावादी (Utilitarian) को दार्शनिक चिन्ता मानव जीवन को लेकर ही विकसित होती है। मानव क्रियाशीलता (human activity) मानव कल्याण (human well-being) की भावना से अभिभूत राजनीतिक स्तर पर वह कर्मनिष्ठ (strenuous) रूप में समस्त असमा-नताओं, अत्याचारों (tyranny) एवं अन्यायों (injustices) का विरोधी है। यही नहीं वह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का एकमात्र अभिभावक है। अस्तु, उपयोगितावाद साग्रह रूप में व्यावहारिक (practical) तो है ही साथ ही वह अनुभूत्यात्मक चेतना का साक्षी एवं 'सतत्' मानव-जीवन के उत्थान और प्रगति का परिवाहक औपचारक है।

उपयोगिता (Utility) और उपयोगितावाद (Utilitarianism) शब्द मात्र दार्शनिकों को ही अरुचिकर नहीं थे, वरन् इन शब्दों का कुछ ऐसा दुर्भाग्य रहा कि साधारण जन प्रयोग में आकर इसके रूप में विभिन्न प्रकार की विकृतियों और अप्रासांगिक धारणाओं के भी सूत्र-पात होते रहे जिसके कारण अनेक प्रकार की भ्रांतिजनक स्थापनाएँ साथ सम्बद्ध हो गईं। मानव उत्थान और विकास के संदर्भित प्रयोगों में भी इनका अर्थ व्यावसायिक (commercial) और स्वार्थपूर्ण (selfish) समझा जाने लगा। समस्त अनावश्यक परिणतियों का प्रभाव इस सीमा तक हुआ कि यह शब्द अपनी समस्त पवित्र और विशुद्ध संदर्भों से च्युत होकर लोक धारणाओं में एक दूसरे ही अर्थ के प्रेषक बन गये। मूलतः उपयोगिता (Utility) शब्द का अर्थ लक्ष्य प्राप्ति को साधना है (serving a purpose) प्रतिफलित होने वाली सेवा प्रायः लघु परिवेश में लघु स्थापनाओं की विनम्र उद्देश्यपूर्ति से प्रेरणा पाती है और इसकी परिणति हमारे लिए सुविधाजनक एवं लाभदायक होते हुए भी हेय रूप में होती है। हमारे लिए यह सम्भव नहीं है और न यह सरल ही है कि हम एक छोटी-सी बात को बहुत ही

बड़े प्रारूप में वैभवयुक्त विस्तार के साथ प्रस्तुत करें। ऐसा करना साधारण प्रयोग में पापोश को या कोयला ढोने की टोकरी और कूड़ा की दौरी को कोई वैभवयुक्त शब्दाडम्बर से अन्य कुछ सिद्ध करना होगा। हम अपने विचारों को नित्य प्रति सर्वसाधारण एवं जन-व्यवहार के रूप में ही प्रयुक्त करने में विश्वास करते हैं और इस जन-आदर्शवादी रूप को ही स्थापित रखना श्रेयस्कर समझते हैं। किन्तु मात्र इन कारणों से ही उपयोगिता को तुच्छ अथवा घृणित दृष्टि से नहीं देखना चाहिए।

क्योंकि कोयले की टोकरी, कूड़े की टोकरी अथवा पापोश का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है और अपने-अपने स्थान पर उनका एक निश्चित मूल्य (value) भी है। मात्र इन वस्तुओं को नगण्य मानकर इनकी उपयोगिता की अवहेलना नहीं की जा सकती। मनुष्य के प्रत्येक जीवन-क्षेत्र का एक दूसरे से पारस्परिक उपयोग है। इसलिए मनुष्य को मात्र व्यक्ति रूप नहीं देखना चाहिए, वरन् मनुष्य को मूलतः ऐसा व्यक्ति मानना चाहिए जो प्रकृति से ही सामाजिक है। अर्थात् जिसका अस्तित्व एवम् कल्याण सह-अस्तित्व और सहयोग पर ही अवलम्बित है और रागात्मक भाव बन्धन मानव सहायता और परहित (Altruism) के भाव से सन्निद्ध है। मनुष्य अपने अहम् और स्वार्थों की पूर्त्ति भी इन्हीं बन्धनों को स्वीकार करके पा सकता है। इससे भी अधिक यह कि मानव-अस्तित्व मात्र नमक-रोटी तक ही नहीं सीमित है और न वह केवल टोकरी और फावड़े के श्रम तक ही सीमित रह पाता है। वह आदर्शमूलक विचारों से उद्भूत होता है। बौद्धिक, शैक्षिक, राजनैतिक, नैतिक एवं सामाजिक आदर्शों की कल्पना करता है। यही कारण है कि उपयोगितावादी के लिए उपयोग का अर्थ उन समस्त तत्वों में निहित है जो मानव प्रकृति के मूलभूत निष्ठाओं को स्वीकार करते हैं। साथ ही वह अपने उन तत्वों का भी समर्थक है जो सक्रिय रूप से मानव कल्याण के वैयक्तिक एवं पारस्परिक रूपों को पा सकने में सहायता देते हैं। उपयोगितावादियों ने अपनी इसी उपयोगनिष्ठा को सर्व-आनन्द (Happiness) अथवा (बेन्थम के बाद के दार्शनिकों ने) अधिक से

अधिक आनन्द (The greatest happiness of the greatest number) को ही उपयोगिता का लक्ष्य माना है। दूसरे शब्दों में इसी भाव को आत्मदीप्त उदारता (Enlightened Benevolence) की भावना से भी सम्बोधित किया गया है।

इसी प्रकार लोक प्रयोग (popular usage) ने उपयोगितावाद (Utilitarianism) मूल भाव का पतनोन्मुख बना दिया है। इस लोक प्रयोग ने उपयोगितावाद के अर्थ को संकीर्ण संदर्भों में प्रयुक्त करके इसे मानव इच्छा से द्रवित कार्य व्यापार के निम्नस्तरीय परिवेशों में ऐसा गन्दा और कुत्सित रूप दे डाला है कि वास्तविक अर्थबोध निन्दनीय संस्कारों के बोझ से दबकर कुण्ठित हो गया है। अस्तु, जब कोई भी साधारण वक्ता आधुनिक युग की निन्दा करता हुआ उसके प्रति अविश्वास और अनास्था के भाव प्रकट करते हुए यह कहता है कि यह उपयोगितावाद का युग (Utilitarian age) बहिष्कृतयोग्य है तो वह मात्र अपनी विवेकहीन जड़ता से ही उद्भूत होकर अनर्गल प्रलाप करता-सा लगता है। यह वह ठीक इसी प्रकार करता है जिस प्रकार वह बिना भौतिकवाद का अर्थ जाने आधुनिक युग की निन्दा करने की इच्छा से उसे भौतिक युग (Materialistic) की संज्ञा देकर अपनी घृणा को व्यक्त करना चाहता है। ऐसा करने में वह उपयोगितावाद और भौतिकवाद दोनों में साम्य प्रस्तुत करके उसके नैतिक पक्षों को अपनी भ्रामक बुद्धि के कारण विवेकहीन अनिष्टकारी सांसारिक वैभव और भौतिक उन्नति का वाहक मान बैठता है। यही कारण है कि जब टामस कार्लायल अपनी समस्त ओजस्विता के साथ भौतिकवाद की निन्दा करते तो उनके बातों को सुनकर नितांत आवश्यक होता है।

इन्हीं कुसंस्कारों से बचने के लिए कुछ लोगों ने उपयोगितावाद द्वारा प्रयुक्त उपयोग (Utility) और आनन्द (Happiness) की अपेक्षा कल्याण कार्य और कल्याणात्मक अस्तित्व (Social welfare) अथवा सामाजिक अस्तित्व आदि (Social being) शब्दों को प्रयोग में लाना अधिक श्रेयस्कर माना है। ये शब्द अपेक्षाकृत कम भ्रामक और अधिक

उपयुक्त माने जाते हैं। वस्तुतः ये ऐसे हैं भी। मानव कल्याण के प्रति एक स्वाभाविक आकर्षण भी लोगों में पाया जाता है क्योंकि मानव कल्याण व्यक्ति निरपेक्ष शब्द होने के नाते इन शब्दों में स्वार्थ और आत्म-तुष्टि के संदर्भों को वहन करने की वह कुत्सित सम्भावना नहीं है जो उपयोग और आनन्द (Utility and happiness) जैसे शब्दों में सम्भव थे। इसके अतिरिक्त कल्याण (Welfare) और उत्तम जीवन (Well-being) जैसे शब्दों का प्रयोग भी साधारणतया अधिक उदात्त संदर्भों में होता है।

इसलिए वे एक व्यापक अर्थबोध को व्यक्त करने में समर्थ भी हैं। वे मूलतः उन समस्त अर्थों को प्रेषित करते हैं जो उपयोग के वास्तविक तथ्य में निहित हैं। इससे भी अधिक कल्याण और उत्तम जीवन इस परिकल्पना को भी आत्मसात् करने की क्षमता रखते हैं जिसे उपयोग आत्मसात् करने में विफल रहा था। यही नहीं कल्याण और उत्तम जीवन की भावना (welfare and well-being) उस सस्ते प्रकार उत्थान और आत्मसात् आनन्द के परिचायक नहीं है जो प्रायः लोक स्तर पर उपयोग (Utility) और आनन्द (Happiness) द्वारा दूसरों के कल्याण और विकास से पृथक् रूढ़ि अर्थ में जाना या समझा जाता रहा है। निजी सम्बन्ध में भी यदि उत्तम जीवन के भाव का सतर्कता के साथ प्रयोग सर्वकल्याण की भावना के साथ सम्बद्ध होकर व्यक्त हो तो वह शब्द व्यक्ति सापेक्ष होते हुए भी स्वार्थरत भावना के साथ उतनी सरलता से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। एक बात स्पष्ट रूप से जान लेना आवश्यक है कि निजी जीवन की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि सर्वकल्याण और सर्वहित की सापेक्षता में भी व्यक्ति का निजी अस्तित्व और उसका निजी भाव-क्षेत्र उन समस्त भावनाओं का केन्द्र स्थल होता ही है और तब उस केन्द्र के विकसित परिवेश को केवल निजी स्तर पर सहज बन्धु, सहज बन्धु की भावना के लिए निजित्व पर आश्रित होना पड़ता है। व्यक्ति को सर्वप्रथम अपने निजित्व के परिप्रेक्ष्य से सर्वकल्याण की भावना को आत्मसात् करना

पड़ता है और तब वह उसके औचित्य को दूसरों के परिप्रेक्ष्य स्तर से देखने में समर्थ हो पाता है। किन्तु उसके इस आत्मसात् और आत्म-सहगमन की भावना को हेय नहीं समझा जा सकता। क्योंकि अब तक वह अपने व्यक्तिगत स्तर पर सम्प्रच्छ भाव की उपलब्धि नहीं कर लेगा तब तक वह बृहत् मानवता के प्रति अपनी सम्पर्कात्मक अनुभूति भी नहीं विकसित कर पायेगा।

उपयोग (Utility) इस प्रकार "कल्याण" (Welfare) ही है और कल्याण के भाव में वे समस्त सम्भावित तत्व निहित हैं जो मानव आनन्द (Man's Happiness) की भावना को प्रतिष्ठित और नियंत्रित करते हैं।

अस्तु, उपयोगितावाद (Utilitarianism) की धारणा की व्याख्या करने में हमें उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष पर भी ध्यान देना आवश्यक है। विशेषतया हमारे लिए अपनी नैतिकता की प्रकृति का, मनोवैज्ञानिक पक्ष का, अध्ययन अनिवार्य हो जाता है।

जहाँ तक की मनोवैज्ञानिक पक्ष का सम्बन्ध है उपयोगितावाद ने प्रारम्भिक काल में अंग्रेजी परम्परा के अनुरूप के निष्कर्षों से भी प्रभावित हुई थी। इसकी पद्धति विशेषादनुभावात्मक (Inductive) हो इसका आधार अनुभूत्यात्मक है और इसका लक्ष्य व्यावहारिक तथ्यों के स्तर पर उपलब्धि प्राप्त करना है। यह मनुष्य को मात्र बौद्धिक (Pure Intellect) मानने से इन्कार करता है किन्तु साथ ही साथ वह मानव प्रकृति की जटिलताओं (Complexities of Nature) और विभिन्न एवं विरोधी अभिरुचियों (Diversity of Interest) को भी ध्यान में रखता है। यह स्वीकार करके ही उपयोगितावाद अपनी विचार-सृष्टि करता है कि मानव अभिरुचि उसकी इच्छाओं और महत्वा-कांक्षाओं द्वारा निर्धारित होती हैं। मानव इच्छाएँ (Man's likings) सर्वप्रथम व्यक्तिगत (personal) होती हैं अर्थात वे उसकी भावनाओं और उद्देश्यों द्वारा अनुशासित होती हैं और ऐसा इसलिए होता है

क्योंकि मूलतः वह आत्म-रक्षा (self-preservation) की प्राकृतिक भावना के अनुरूप ही आचरण करता है। किन्तु चूँकि जन्म से ही मनुष्य समाज का सदस्य होता है। इसलिए उसकी भावनाओं एवम् उद्देश्यों में समाज के अन्य सदस्यों और सहधर्मियों की सतत् निष्ठा के लिए सापेक्ष संदर्भ अनिवार्य होता है। इसलिए उसकी यह भावनाएँ और उद्देश्य बिना उपर्युक्त सापेक्ष संदंभ न तो जी सकती है और न ही प्रतिच्छलित हो सकती है। व्यक्ति अस्तित्व को मात्र निरपेक्ष व्यक्ति सत्ता के रूप में मानने से भयंकर गलती कोई दूसरी नहीं हो सकती। ऐसा प्राणी जो निरा व्यक्ति के रूप में माना जाता है अर्थात् जो अपनी निरपेक्ष सत्ता पर आग्रहशील है वह केवल ऐसी कपोल किंवदन्ती को सिद्ध करना चाहता है जो केवल मानसिक है अर्थात् जिसका कोई भी यथार्थ अस्तित्व कहीं भी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति माता-पिता द्वारा जन्म पाता है जो क्रमशः माता-पिता के संतान होते हैं, और इसी प्रकार आने वाले व्यक्तियों से लेकर विगत व्यक्तियों तक की श्रृंखला माता-पिता (parents) पर आधारित है और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी असहाय स्थिति का वर्षों तक का समय उनकी सेवा-सुश्रुषा पर आधारित होती है। जीवन की गति एवं मानसिक, शारीरिक और नैतिक (Mental, Physical and Moral) शिक्षा के लिए मनुष्य को सदैव दूसरों का सहारा लेना पड़ता है और अनिवार्य रूप में वह उन सामाजिक प्रभावों के पर्यावरणों की अवहेलना नहीं कर पाता। जीवन की आदिम स्थितियों से लेकर अन्त तक मनुष्य को मानव सहयोग (Human co-operation) और सहगामी व्यक्तियों के सम्पर्कों को आश्रय लेना पड़ता है। यही नहीं यदि वह कहीं समाज को नया मोड़ या आकार देता है तो वह स्वयं भी अपने मानवीय पर्यावरण (Human surroundings) द्वारा बनाया और विकसित किया जाता है।

अस्तु, प्रस्तुत संदर्भ में प्रश्न यह उठता है कि यह सामाजिक मानव क्या है? सामाजिकता क्या है और इस सामाजिकता का प्रेरणा स्रोत क्या है? यही नहीं प्रश्न यह भी है कि आखिर मानव लक्ष्य क्या है?

मनुष्य किस उद्देश्य के लिए क्रियाशील है ? साधारणतया उपयोगितावाद की दृष्टि से मानव उद्देश्य आनन्द (Happiness) प्राप्त करना है। किन्तु यह आनन्द (Happiness) व्यक्ति मानव का अकेला आनन्द नहीं है। मनुष्य का अपना शिव (Good) दूसरों के सहयोग और सम्पर्क द्वारा ही उपलब्ध हो पाता है और इस प्रक्रिया में वह स्वयं और उसके सहकारी बन्धु समान रूप से जीवन की तुष्टि और निश्चिन्तता (Satisfaction and Contentment) के लिए उत्सुक होते हैं। वस्तुतः बेन्थम (Bentham) ने इस मत का विशेष रूप से प्रतिपादन किया है । इस तुष्टिपूर्ण निश्चिन्त जीवन (satisfied, contented life) के अन्तिम विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निश्चिन्त और तुष्टिपूर्ण जीवन का अर्थ है सम्पन्न जीवन। अस्तु, उपयोगितावादी दृष्टि से सुख (Pleasure) ही व्यक्ति मानव का उसकी इच्छाओं और उद्देश्यों का अन्तिम लक्ष्य है।

उपर्युक्त संदर्भ का विस्तारपूर्वक अर्थ क्या है उस पर हम अन्यत्र विचार करेंगे। यहाँ पर केवल इतना ही तथ्य जान लेना पर्याप्त होगा।

फिर यदि मनुष्य अपनी वैयक्तिक आनन्द जीवन की परिस्थितियों और पर्यावरणों द्वारा ही प्राप्त कर सकता है अथवा यदि वह निरपेक्ष व्यक्ति के स्तर पर बिना दूसरों के सहयोग के उस आनन्द को नहीं प्राप्त कर सकता तो निश्चय ही उसे राज्य संगठन पर आश्रित होना पड़ेगा। एक बार ऐसा मान लेने पर भी आनन्द की इच्छा और उद्देश्य सार्वभौम रूप में सभी में समान है। यह भी मानना पड़ेगा कि उसकी उपलब्धि सामुदायिक (Community) क्षेत्र में रीति, नीति, विधि-विधान (Custom, law and legislation) द्वारा अनुशासित, प्रोत्साहित और सीमित भी होता रहता है।

इसलिए उपयोगितावादी (Utilitarian) किसी भी रूप में··· अपनी आनन्द की इच्छा को राजनैतिक एवं राजकीय संक्रियता से पृथक् नहीं कर पाता। इस प्रकार की सक्रियता कर्त्तव्यनिष्ठता के दायित्व को विकसित तो करती ही है साथ ही वह एक स्पष्ट प्रेरणा उन कर्त्तव्यों

को कार्यान्वित करने की एवम् एक सहायक-शासन को प्रतिष्ठित करने की भी अनुमति प्रदान करती है।

और इस प्रकार उपयोगितावादी के लिए राजनीति एक नैतिक दायित्व के रूप में प्रेरणा देता है। उसके साथ नैतिक और राजनैतिक दोनों विचारों का दार्शनिक पक्ष साथ-साथ सापेक्ष रूप में चलते हैं। किसी भी राजनैतिक सत्ता का मूल्य तभी आँका जा सकता है जब वह अपने विधायकों द्वारा प्रशासित जनता के "शिव" (Good) अथवा कल्याणात्मक भावना को दृष्टि में रखकर अपनी सत्ता का प्रयोग करता है। जन कल्याण की व्यापक भावदृष्टि ही सर्वोपरि लक्ष्य है और इस लक्ष्य का वास्तविक लक्ष्य है नागरिकों के विकास में अनेकानेक रुकावटों को दूर करना, उनके विकास-साधनों में प्रगति और अभिवृद्धि करना, साथ ही उस वातावरण का निर्माण करना जो उनके विकास और उत्थान की भावना को अनुकूलात्मक सहायता दे सके। प्रत्येक विधायक के नकारात्मक (Negative) और सकारात्मक (Positive) दोनों ही रूप होते हैं। अर्थात (नकारात्मक विधायकों द्वारा) जितनी भी रुकावटें जन-कल्याण के विकास में बाधा पहुँचाती हैं उनका निराकरण करना और (सकारात्मक विधायकों द्वारा) उन परिस्थितियों और वातावरणों का निर्माण करना जो प्रत्येक कल्याणात्मक भाव को उसके औचित्य के साथ विकसित होने का अवसर एवं सुविधा दोनों ही प्रदान कर सकें।

प्रस्तुत दायित्व को कार्यान्वित करने के लिए मानव प्रकृति एवं उससे सम्बन्धित उसके मन्तव्यों तथा उन समस्त आदर्शों, कल्पनाओं और प्रेरणाओं का वृहद् अध्ययन आवश्यक है, जो समय-समय पर उसको प्रभावित, प्रेरित और उपलब्धिनिष्ठ बनाने में योग देती रहती है। दूसरे शब्दों में ऐसा करने का आशय मानव नैतिकता (Ethics) को उसके चारित्रिक एवम् व्यावहारिक तथ्यों के अध्ययन को सुगम बना सकता है—वास्तविक रूप में वैज्ञानिकता प्रदान करता है। आचरण सम्बन्धी अपव्यय स्थित वक्तव्यों और सामाजिक जीवन

से सम्बन्धित सत् ही विश्लेषण अथवा अनियमित कल्पनाओं अप्रमाणिक निष्कर्षों को त्याग कर हमें मानव अस्तित्व के पक्ष का गंभीर अध्ययन उसके नैतिक गतिविधि की प्रक्रियाओं का वह पक्ष भी देखना होगा जो आज के विज्ञान द्वारा उसके अन्वेषण-कार्य को अधिक सुलभ बनाता है। हमें दृष्टि प्रेक्षण (Observation), प्रयोग (Experiment)—(प्रयोग का रूप केवल समाज और नीतिशास्त्र तक ही लागू हो सकता है) और उसके साथ-साथ विशेषादनुमात्मक (Inductive) पद्धतियों का अधिक निश्चयात्मक रूप से अनुसरण करना होगा। नैतिक सिद्धांतों (Ethical Theory) को तो नैतिक वास्तविकता (Ethical fact) तक परिणत होने और फिर उनका साधारणीकरण रूप व्यवहरित होने में केवल उन्हीं तथ्यों (Data) का आश्रित होना पड़ता जो अनुभूतियों द्वारा उपलब्ध हो पाती हैं। इस दृष्टि से उपयोगितावादी नैतिकता मूलतः विश्लेषणात्मक वर्णनात्मक, और विशेषादनुमात्मक (Inductive) रह पाती है। उसे निश्चित एवं निर्धारित तथ्यों पर ही संतोष करना है। किंतु ऐसा करने में भी अधिकांश रूप में उपयोगितावादी विचारधारा की यह चेष्टा रहती है कि अधिक से अधिक प्रामाणिक आधारों पर वह अपना अध्ययन सही दिशाओं में प्रेरित कर सके ताकि सामाजिक प्रगति एवं उसके विकासशील स्थूल, उद्देश्यों में निहित जीवन की परिस्थितियों और सीमाओं का यथार्थ दृष्टिगत हो सके। आदर्शवादी (Idealist) नैतिक शास्त्र की बहुत-सी मान्तयाएँ इसीलिए उपयोगितावादी विचारकों द्वारा त्याज्य बन जाती हैं।

यही नहीं ऐसी मान्यताएँ प्रायः भर्त्सनापूर्ण दृष्टि से देखी जाती हैं और उन्हें तिरस्कृत कर दिया जाता है। किन्तु वह आदर्शवादिता जो व्यावहारिक सुधारों से अनुप्राणित होकर स्थापित की जा चुकी है उसे तिरस्कार तो किया ही नहीं जाता वरन् इससे भी अधिक उसके आधार पर अपनी सहस्राब्दिक सामाजिक अध्ययन के तथ्य निर्धारण को सोद्देश्यपूर्ण शक्ति के रूप में स्वीकार करके उनका उपयोग भी किया जाता है; क्योंकि ऐसा करने में व्यक्ति और जातिसमूह दोनों

की सम्पन्नता को अधिक से अधिक कल्याणात्मक भावना (Welfare) और प्रेरणा भी मिलती रहती है। और तब यही स्थिति उन आलोचकों के प्रति उत्तर में प्रयुक्त हो सकती है जो उपयोगितावाद की आलोचना करते समय सामान्यतः कह बैठते हैं कि उपयोगितावाद में दैनिक स्तर पर मानव आवश्यकताओं और परिस्थितियों पर आग्रह होने के कारण उसमें आदर्शवादिता का अभाव है। यही नहीं उपर्युक्त उत्तर उसके लिए भी प्रयुक्त हो सकता है जो प्रायः यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि उपयोगितावाद में कल्पना-शक्ति को उत्तेजित करने की शक्ति न होने के कारण वह केवल वर्तमान स्तर पर मानव सुविधाओं और असुविधाओं, संघर्षों और वेदनाओं की प्रबल स्थिति के विरोध में उस भविष्य की उदात्तपूर्ण संभाव्य निष्ठा नहीं है जिसमें यह सब दुःख दैन्य नष्ट हो जायगा और सर्वथा स्वर्ण युग अपनी चिर आलोक स्थिति में प्रतिष्ठित होकर अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेगा। ऐसे तार्किकों का यह मत है कि मनुष्य आदर्शों से ही परिचालित होता है न कि तथ्यों से। उनकी यह निश्चित धारणा है कि भले ही इस प्रकार की आदर्शात्मक सृष्टि की कल्पना में सिवा दिवालोक (Fancy) के और कुछ भी न हो फिर भी ऐसी कल्पनाएँ मानव की शिव भावना और उसके अस्तित्व बोध (worth) के लिए आवश्यक है। किन्तु उन तार्किकों के इस विचार का (उपयोगितावादी) का यह उत्तर है कि यह सोचना कि उपयोगितावादी विचारक के पास कोई आदर्श नहीं है, सर्वथा गलत है। इसके विपरीत समाज की भावी समृद्धता की दृष्टि, और सम्पूर्ण मानव समाज को उसके वास्तविक मन्तव्यों और उद्देश्यों के अनुरूप प्रोत्साहित करने की क्षमता ही उसे ऐसी पुनर्शक्ति देने में सफल होगी जो अनेकानेक विफलताओं और कठिनाइयों में उसे उबरने की क्षमता प्रदान कर सकेगी। इसका रागात्मक सम्बन्ध मनुष्य के उत्सर्ग भावना के साथ सम्बद्ध होकर भी मूलतः अपनी व्यावहारिकता बनाये रहता है। जिसको (उपयोगितावादी विचारकों) आत्म-विश्वास रहता है कि वह आकाश में अस्थिर बादलों के समान धुँधला

और अनिश्चित विचारक नहीं है वरन् उसका अपना ठोस आधार है जिसके बल पर वह उचित और सशक्त उपलब्धियों का साक्षात्कार करने की क्षमता रखता है। जिन आदर्शों का वह तिरस्कार और अवहेलना करता है उसके विषय में वह निश्चयात्मक रूप में यह जानता है कि वे या तो अनावश्यक या अग्राह्य या दोनों ही है। उसके (उपयोगितावादी (Utilitarian) विचारक के) समक्ष भी नये स्वर्गों की कल्पना और नई धरती की व्यंजनाएँ अपनी समस्त कल्पनाओं के साथ ठीक एक भावुक व्यक्ति के समान प्रस्तुत होती रहती हैं किन्तु उसकी समस्त धारणाएँ मूलतः मनुष्य की प्रकृति, उसके रचनागठन, चारित्रिक बल, आवश्यकताओं और सम्भावनाओं और उस भावनाओं का आधार उसकी ज्ञानप्रधान बुद्धि द्वारा अनुशासित होते रहते हैं। इसलिए न तो वह विक्षिप्त प्रलाप कर पाता है और न स्वप्नदर्शी के समान आधी कल्पनाएँ ही गढ़ पाता है। यही नहीं वह अपनी इस धारणा को और आगे तक ले जाता है; क्योंकि चाहे जो हो भावुकता का यथार्थ स्थान होता ही है। और इस यथार्थता के अनुरूप वह अपनी धारणा में इस सीमा तक आस्थावान् होता है कि वह अपने व्यावहारिक आदर्श के प्रति सोद्देश्यता के साथ भावुक होना अमूर्त्त और अप्राप्य आदर्श की अपेक्षा अधिक सार्थक मानता है। वह योजनाबद्ध और सोद्देश्य उपयोगितावाद को इस सीमा तक सत्य मानता है कि चाहे वह हृदयग्राह्य हो या न हो फिर भी वह उसके नियोजित रूप के प्रति आस्थावान् रहता ही है। किन्तु वह अपनी कल्पना जीवन की स्थितियों और संभावनाओं की सापेक्षता में ऐसी अव्यावहारिक विचारों के अन्तर्द्वन्द्वों की निरर्थक परिकल्पना में पड़ते रहने की अपेक्षा इस प्रकार के प्रयोगों के लिए क्षम्य माना जा सकता है। ठोस धरती उसके लिए एक कटु सत्य है, और इस आधार पर मानव स्थिति के सुधारने में जो भी प्रयास हों उसका इहिलौकिक रूप वास्तविकता यथार्थ और वस्तु स्थिति से सम्बद्ध होना आवश्यक है।

उपयोगितावाद के प्रारम्भिक काल में ही उसकी यह व्यावहारिक

(Practical Character) विशेपता उभर चुकी थी। बेन्थम ने उपयोगिता की परिभाषा देते हुए उसे जिन दो तत्वों का कट्टर विरोधी घोषित किया था। वे दो तत्व अन्यास (Asceticism) और सहानुभूति (Sympathy) अथवा वितृष्णा (Antipathy) की भावनाएँ थीं। ऐसा करके उसने उपयोग की धारणा को व्यावहारिक प्रकृति के साथ-साथ विक्षेप और अतिवादी रागात्मकता असंतुलनवादी प्रक्रिया से सुरक्षित कर दिया था। दूसरे शब्दों में वह उपयोगितावाद को आचरर्णयुक्त पद्धति के रूप में स्थपर्पित करना चाहता था। वह इसको मठवादी नैतिकता (Cloistered virtue) और अस्वाभाविक सहनेदना से द्रवित दयाभाव के विरोध में प्रस्तुत करना चाहता था। इस प्रकार वह विवेकहीन असीम और अनुमोदन की भावस्थिति से भी बचाना चाहता है।

उपयोगितावाद को अभी-अभी हमने अनुभूत्यात्मक (experiential) रूप में मान्य है अर्थात् वह अनुभूति पर आधारित है और वह अनुभूति को ही अन्तिम लक्ष्य मानकर उसी के प्रतिमान से उसकी परीक्षा भी लेता रहता है। अव प्रश्न यह उठता है कि वह किस प्रकार की अनुभूति है जो उपयोगितावादी को प्रेषित करती है? सर्वप्रथम वह ऐसी अनुभूति का समर्थक है जो अमूर्त सिद्धान्तवादिता और स्वप्नरंजिता का खण्डन करती हैं साथ ही जो जीवन की वास्तविकता से उसकी जटिल परीक्षाओं को भिन्न स्तर पर जीवित रहने की चेष्टा करती है। यद्यपि उपयोगितावाद प्रत्येक निष्कर्ष को बहुत महत्वपूर्ण मानता है फिर भी वह ऐसी काल्पनिक निष्कर्षों को अधिक महत्व नहीं देता। प्लेटो का द्वन्द्वात्मक (Dialectical) सिद्धान्त के लिए, अथवा आधुनिक युग के गणित प्रधान दर्शन के लिए भले ही व्यावहारिक प्रयोग (application) का कोई महत्व न हो और वह इस पक्ष पर ध्यान न दे कि अमुक विचार-पद्धति व्यावहारिक हैं या नहीं; किन्तु जहाँ तक उपयोगितावाद का सम्बन्ध है उसके लिए व्यावहारिकता का अनिवार्य रूप में बहुत बड़ा महत्व है। अस्तु, इसकी दूसरी विशेषता

यह है कि यह अनुभूति को ज्ञान का स्रोत मानता है। लाक ने इसको सम्वेदना (Sensation) और प्रतिभावना (Reflection) के अन्तर्गत अनुभव किया था और उसकी यह विवेचना प्रारम्भिक उपयोगितावादियों ने पूर्णतया स्वीकार भी कर लिया था। उसकी यह धारणा पूर्णतया सत्य थी या नहीं इस तथ्य पर आधारित है कि हम सर्वथा दूसरे दृष्टिकोण से (लाक के) प्रतिभावना सम्बन्धी अध्ययन की वस्तु सत्य को स्वीकार करते हैं और यह कहना अनुचित न होगा कि ज्ञान स्टुअर्ट मिल ने बेन्थम की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व लाक के निष्कर्षों को इस रूप में दिया है। किन्तु अनुभूति की यह व्याख्या मुख्यतः इस बात के आधार पर निर्धारित है कि अनुभूति द्वारा ज्ञान ग्रहण करने वाला व्यक्ति कौन है? कैसा है? प्राचीन चिन्तकों में से प्रायः सबकी सामान्य धारणा यह थी कि व्यक्ति अपनी अनुभूतिस्तर पर आत्मपूर्ण (self-content) इकाई है जो जन्म से एक निश्चित मानसिक स्थिति भावभूमि (Tabula Rosa) लेकर जन्मता है अथवा जिनकी मानसिक स्थिति एक ऐसे स्लेट या कोरे कागज के समान होती है जिसमें समस्त चारित्रिक शून्यता (void of all charactors) होती है। वह अपनी अनुभूतियों, ठोकरों, अनुभवों द्वारा (trial and error) सीखते और छोड़ते हुए, विचारों के क्षेत्र में उन पर आधारित रहता है। चारित्रिक स्तर पर भी वह इन्हीं माध्यमों से उपलब्धियाँ ग्रहण करता है और जीवन को सफल बनाने की चेष्टा में रत रहता है।

ये विचारक वंशानुक्रमण (Heredity) को विशेष महत्वपूर्ण नहीं मानते थे। न ही ये पूर्वजों द्वारा हस्तांतरित एवं उपलब्ध संस्कारों को महत्वपूर्ण समझते थे। यही नहीं ये यह मानते थे कि मनुष्य जिस समाज में जन्म लेता है वह समाज उसके बिना भी स्वतन्त्र स्वीत्व रखता था और अपनी उस स्वतन्त्र स्थिति से ही समाज ने उसके व्यक्तित्व को विभिन्न रीति-रिवाजों, संस्थाओं, पक्ष और विपक्षपूर्ण मान्यताओं और

२

उत्कर्षों-आदर्शों की सीमित परिधियों और सीमित सम्भावनाओं द्वारा मनुष्य के आचरण और विचार को संचालित एवं नियंत्रित कर रखा है। वे इस तथ्य को भी मानने के लिए तैयार नहीं थे कि मनुष्य जन्मते ही उस भाषा का अधिकारी हो जाता है जो अपने सीमित विकास के बावजूद भी उच्चतर विचारों और भावनाओं से लेकर निम्नतर के भाव विचार का ज्ञान उसे देता है, और बिना इन साधनों के उसकी समस्त गतिशील प्रगति एवं बौद्धिक तुष्टि असंभव थी। यहाँ तक कि इस बात की भी उपेक्षा की जाती है कि मनुष्य को वह अनुभूति नहीं मिल सकती जो निम्न स्तर के जीवों की होती है अथवा यह कि मनुष्य को वह अनुभूति नहीं मिल सकती जो निम्न स्तर के जीवों को मिलती है अथवा यह कि मनुष्य अनुभूति को भी ग्रहण नहीं कर सकता जो उसे जीवन के आदि काल में दूसरों पर आश्रित होकर अनुभव हुए हैं और जिनके माध्यम से उसने भाषा द्वारा वह समस्त ज्ञान अर्जित किया है, जिसके अभाव में न तो वह खोज कर सकता था और न उसके ज्ञान का क्षेत्र ही विकसित हो सकता था। सारांश में इस तत्व को यों भी कहा जा सकता है कि उपयोगितावाद ने अपने आदिम काल में उन समस्त सामाजिक प्रभावों और परिस्थितियों की अवहेलना की थी जो मनुष्य को उसके जीवन के प्रारम्भ से ही लगातार अप्रतिभ शक्ति से प्रभावित करती रहती हो और अपने प्रभावों द्वारा उसके भीतर न्यूनतम् क्षमताओं और शक्तियों को एक विशेष प्रकार के विस्मयात्मक गति के साथ विकसित करने का अवसर प्रदान करती रहती है। उपयोगितावादी अनुभूति को मर्मज्ञान का स्रोत ही नहीं मानते वह अनुभूति को आदर्श स्थिति (Criterion) भी मानता है। वह प्रत्येक संदिग्धता और ज्ञानपूर्ण स्थिति की परीक्षा के लिए अनुभूति की निर्णयशीलता का आश्रय लेता है। यही नहीं वह अनुभूति को नैतिक विचारों का आदि स्रोत भी मानता है। हमारी नैतिक धारणाओं के सत्य-असत्य पक्ष का निराकरण और उसका प्रणयता एवं प्रेरक भी अनुभूति ही को मानता है। इसी के आधार पर वह वस्तु-स्थितियों को स्वीकार या तिरस्कार

करता है। मानव कार्य-कलाप और आत्म-अनुभव नैतिक पक्ष (Phenomena of moral conscience) अर्थात् नैतिकता के प्रत्येक आत्म-अनुभव (conscience) की स्थिति को उपयोगितावादी विचारक अनुभूत्यात्मक सुख-दुख के स्तर पर ग्रहण करता है और यह मानता है कि उनका उद्भव इन्हीं सुख-दुःख से नियमित अनुभूतियों द्वारा ही होता रहता है। वह यह भी स्वीकार करता है कि नैतिकता की आदर्श स्थितियाँ और उसके कठिन परीक्षा-स्तर-मूल्यों के स्थापित करने में अनुभूतियों के आश्रित होते हैं।

इस विचारधारा में यह माना जाता है कि प्रत्येक नैतिक सिद्धांत का अवास्तविक मूल्य उसके व्यवहृत होने के बाद प्राप्त उपलब्धियों द्वारा ही निर्धारित होता है अर्थात् प्रत्येक नैतिक सिद्धान्त का मूल्याङ्कन इस बात पर निर्भर करता है कि कितनी आनंद भावना किस व्यापक स्तर तक प्रेषित कर सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उपयोगितावाद का सम्पर्कवाद (Associationism) के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्ध क्यों और कैसे है। सम्पर्कवाद (Associationism) का मूल अर्थ ज्ञान, बुद्धि की सम्वेदनशील इकाइयों को प्रकृति और गठन सम्बन्धी तत्वों की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करना है। साथ ही यह उन सिद्धान्तों को भी उद्घटित करता है जो उसकी रचना विन्यास को प्रभावित करते हैं। इसका प्रयोग बड़े ही सुदृढ़ रूप में होता है और इसमें समस्त मानसिक प्रारूप निहित होते हैं अर्थात् मानसिक भावनाओं के बौद्धिक (Intellectual) भावात्मक तत्वों के प्रारूप इसमें स्वतः विकसित होते रहते हैं। यही कारण है कि सम्पर्कवाद (Associationism) नीति शास्त्र और आचरण के क्षेत्रों को ठीक उसी प्रकार प्रभावित करता रहता है जिस प्रकार की मानसिक विज्ञान (mental science) को प्रभावित करता है। दर्शन शास्त्र के इतिहास में उपयोगितावाद (Utilitarianism) और सम्पर्कवाद दोनों विचार-धाराएँ समान रूप से साथ-साथ विकसित हुई हैं। यही नहीं वस्तुस्थिति यह है कि

उपयोगितावाद के प्रमुख प्रचारक सम्पर्कवाद के भी प्रणेता रहे हैं। ह्यूम, बेन्थम, मिल और वेन के नाम इस दिशा में उल्लेखनीय हैं। इसका कारण भी कहीं अन्यत्र नहीं वरन् उपयोगितावाद में ही निहित है।

उपयोगितावाद और सम्पर्कवाद के इस प्रकार के नैकट्य का प्रथम कारण तो यह है कि सम्पर्कवाद (Associationism) मूलतः अनुभूति की व्याख्या और अध्ययन करने पर आधारित है और उपयोगितावाद मुख्यतः अनुभूत्यात्मक विचार दर्शन है। यदि आनन्द (Happiness) की अनुभूति से पृथक व्याख्या प्रस्तुत करना संभव हो सकता अथवा यदि वास्तविक आनन्द आन्तरिक उपलब्धि की अपेक्षा मात्र सूक्ष्म सिद्धान्तों द्वारा बाह्यारोपित वस्तु होती तो सम्पर्कवाद (Associationism) का इतना महत्व न होता। किन्तु यदि आनन्द केवल मानव अस्तित्व से सम्बंधित होने पर ही अनुभव किया जा सकता है और उसकी धारणा मानव प्रकृति जैसा बना देती है वैसी ही होती है या यदि उसका सम्बन्ध मानव आवश्यकताओं और महत्वाकांक्षाओं से होता ही है तो फिर उस आनन्द के संदर्भ में मानव जीवन की स्थूल परिस्थितियों का अन्वेषण अवश्यम्भावी हो जाता है और साथ ही यह भी जानना आवश्यक हो जाता है कि मानव आनन्द कैसे प्राप्त किया जाता है अर्थात् उसकी उपलब्धि के लिए कौन से यत्न प्रयोग में लाये जा सकते हैं। उपर्युक्त संदर्भ में इसका अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है कि वह कौन-सी परिस्थितियाँ हैं जिनमें मनुष्य के हित का विकास संभव हो सकता है। वे कौन से साधन हैं जिनके द्वारा सुख के विभिन्न स्तर का सम्बद्ध रूप प्राप्त किया जा सकता है और उनका भावान्तरण भी प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि किस प्रकार सम्पर्कात्मक संवेदना मानव अनुभूति को गहरी और श्रृङ्खलापूर्ण बनाती रहती है। चूँकि आचरण का आनन्दमय जीवन से गहरा सम्बन्ध है इसलिए मानव कर्मों का मूल्यांकन एवं उनकी परिणति की सम्भावनाओं पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है। क्योंकि क्या तिरस्कार करना चाहिए और क्या स्वीकार करना चाहिए; वर्तमान

स्थितियाँ भविष्य की आवश्यकताओं को प्रभावित कर सकती हैं और इनकी क्या सीमाएँ हैं इन सबका समुचित ज्ञान आनन्द के उपलब्ध में सहायक है। अस्तु, जब तक अध्ययन के इस प्रारूप को स्वीकार नहीं किया जायगा तब तक सम्पर्क के मूल अर्थ का बोध नहीं हो पायेगा। अस्तु, सम्पर्क मनुष्य के आदतों के निर्धारण के लिए आवश्यक हो जाता है। क्योंकि नैतिक दृष्टि से आदतों (habits) का अधिक महत्व है, बिना आदतों के सुधार से विद्रोही की प्रकृति को समझना सम्भव नहीं हो पायेगा इसीलिए उपयोग को जीवन का मूल पथप्रदर्शक मान लेने के बाद सम्पर्क का महत्व सर्वोच्च हो जाता है। किन्तु सम्पर्क-वाद (Associationism) का महत्व एक दूसरी दृष्टि से भी अत्यधिक हो जाता है। यदि मानव आत्मा की कोई भी वैज्ञानिक परिभाषा प्रस्तुत करनी है और उसके चारित्रिक क्रियाशीलात्मक, शक्तिआत्मक, एवं सृजनात्मक चेतन आत्मा को जानना है तो यह सब सम्पर्कआत्मक अनुभूति द्वारा ही सम्भव है। ठीक इसी प्रकार यदि आत्मा सम्बन्धी विवेकपूर्ण तथ्यों का भाव-बोध व्यक्त करना है तो हमें सम्पर्कात्मक अनुभूति के स्तर पर यह मानना होगा कि यद्यपि मनुष्य के समस्त प्रयासों का लक्ष्य आनन्द प्राप्त करना है फिर भी वह नैतिक स्तर पर कभी भी इस आनन्द को सीधे ढंग से नहीं ग्रहण करता वरन् वह आनन्द-उपलब्धि के लिए अपनी धारणाओं के अनुरूप अधिकार और कर्तव्य को समझता है और उन पर आचरण करता है। अन्य दार्शनिक पद्धतियों की भाँति उपयोगितावादी भी कर्तव्यनिष्ठा की उच्चतम परिकल्पना (Supreme moral idea) का साक्षी होता है और इस कर्तव्य से सम्बन्धित समस्त सदाशयता (Virtue) एवं आभारों (Obligations) को वहन करने के लिए समस्त मानवीय वैभव की शक्तियों (Magisterial force) के साथ तत्पर भी होता है। अस्तु, उपयोगितावादी उन समस्त तत्वों का, जो उसकी कर्तव्यनिष्ठा के महत्वपूर्ण अंग होते हैं, परीक्षण और विवेचन करता है। ऐसा वह यह सिद्ध करने के लिए भी करता है कि वह किस प्रकार प्रस्तुत भाव-बोध द्वारा

शक्ति ग्रहण करके उसकी पृष्ठभूमि में नियमित अनुभूति द्वारा उसकी क्रियाशीलता परिचालित होती हैं। इस प्रकार की अनुभूतियों में निहित सम्पर्कवाद (Associationism) एक बार फिर अपने समस्त अनुभूतियों के साथ अनिवार्यता ग्रहण कर लेता है। यही नहीं वह समस्त नैतिक अनुभूतियों को सरल एवं सशक्त रूप में ग्रहण करता है। परिणाम सम्बन्धी उपलब्धियों के साथ वह उनको पथभ्रष्ट नहीं करता वरन् वह इसके विपरीत प्राप्त मूल्यों को अनुभूति परीक्षा के स्तर पर रखकर देखता है और उसकी सार्थकता का साथ देता है। यह उत्सर्ग भावना वैयक्तिक स्तर पर न ग्रहण करके वह सामूहिक स्तर पर अंगीकार करने की चेष्टा करता है।

अपनी अन्तिम स्थिति में सम्पर्कवाद उपयोगितावाद को वैज्ञानिक नैतिकता के निर्धारण में सहायता देने वाली वस्तु मानता है। एक अनुपयोगितावादी दर्शन में स्थिर (Stoic) नैतिकता या कैन्ट (Kant) की नैतिकता (Ethics) जैसी विशेषताएँ भले ही हों और वह मानव की सत् वृत्त्यात्मक (Puritanic) तत्वों का पृष्ठप्रेषण करके मनुष्य के जीवन और उसकी विशुद्धता को गम्भीरता से भले ही सम्पृक्त करती है, किन्तु किन्हीं भी स्थितियों में ऐसा अनुपयोगितावाद वैज्ञानिक नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति केवल मनुष्य के एकांग को ही तुष्टि कर पाती है। मानव अस्तित्व के रागात्मक क्रियाशील स्रोतों तक पहुँचने में इस प्रकार की प्रवृति सदैव असमर्थ रहती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि केवल नियमबद्ध (formal) नैतिकता मानव के सक्रिय, ओजस्वी सामाजिक अस्तित्व का पथप्रदर्शन करने में सदैव असफल सिद्ध होती रही है।

अस्तु, उपर्युक्त कथन के आधार पर यह सरलता से देखा जा सकता है कि उपयोगितावाद का वास्तविक गुण कहाँ व्यक्त होता है। उपयोगितावाद अत्यधिक मानवीय और व्यावहारिक है। वह मात्र ऐसा नैतिक

सिद्धान्त नहीं है जो वैज्ञानिक प्रामाणिकता के लिए आग्रहपूर्ण है किन्तु वह ऐसा सिद्धान्त अवश्य है जिसका सम्बन्ध राजनैतिक तो होता ही है साथ ही वह राज्य-विधायकों के साथ ही अपने को सम्बद्ध पाता है। उपयोगितावाद प्रत्यक्ष रूप से मानव हितों के जीवन्त आन्दोलनों के सम्पर्क में रहता है और अपने स्थान से मानव समाज को उच्चतर लक्ष्य तक विकसित होने की प्रेरणा तक देता है। उपयोगितावाद का यह गुण विशेष कम सराहनीय नहीं है।

अध्याय २

जर्मी बेन्थम : जीवन कृतित्व

उन्नीसवीं शताब्दी की उपयोगितावादी परम्परा का सूत्रपात बेन्थम द्वारा ही प्रारम्भ होता है। वह अंग्रेजी उपयोगितावादी आन्दोलन का महत्वपूर्ण व्यक्ति था। उसके प्रधान अनुयायियों में जेम्स मिल्स और उसका पुत्र स्टुअर्ट मिल्स, जार्ज ग्रोटे और अलेक्जेण्डर वेन थे। दार्शनिक और विचारक होने के अतिरिक्त यह लोग इस विषय में विशेष रुचि रखनेवालों में से थे। बेन्थम स्वयं कानून का विद्वान था और उसी में विशेष शिक्षा भी प्राप्त कर चुका था। लेकिन उसने कानून का पेशा छोड़ कर व्यावहारिक विधायकों के प्रारूप और उनके प्रचार कार्य को करना शुरू कर दिया था। ग्रोटे एक महाजन (Banker) था और वेन जो एक यूनिवर्सिटी का प्राध्यापक था यद्यपि उसे इसी विपय का व्यक्ति नहीं कहा जा सकता फिर भी वह अपना साहित्यिक व्यक्तित्व प्रारम्भ करने के पूर्व (बोर्ड आफ हेल्थ) स्वास्थ्य विभाग में कार्य कर चुकने के नाते और एडविन चैडविक के संरक्षण में व्यवस्था सम्बन्धी कार्य करते रहने के नाते उस विषय में वह व्यावहारिक रूप से दीक्षित हो चुका था। न्याय सम्बन्धी विषयों पर जान आस्टिन ने अपनी पुस्तक प्राविंस आव जुरिस्प्रूडेन्स डिटरमिण्ड (Province of Jurisprudence Determined) में उपयोगितावादी सिद्धान्तों को विकसित किया था और रिकार्डो (Ricardo) ने अपनी पोलिटिकल इकानोमी (Political Economy) पुस्तक में भी इसको अपना आधार माना था। राजनीतिक विचारक के रूप में (एक को छोड़कर) प्रायः सभी उदार और गतिशील विचारों के दार्शनिक आधार

पर विशेष बल देते थे और उसके सशक्त अनुयायी होने के नाते दार्शनिक क्रान्तिकारी (Philosophical Radicals) के नाम से विख्यात थे।

अस्तु बेन्थम से ही हम अपना अध्ययन प्रारम्भ करते हैं।

१५ फरवरी १७४८ को रेड लाइन स्ट्रीट (Red Lion Street) हाउन्ड्स डिच (Hounds Ditch) लन्दन में बेन्थम का जन्म हुआ था और वह लगभग चौरासी वर्ष का श्रमपूर्ण सम्पन्न जीवन बिताने के बाद ६ जून १८३२ ई० में क्वीन्स स्क्वायर प्लेस, वेस्ट मिनिस्टर में दिवंगत हुआ। उसके पिता और पितामह दोनों ही वकील थे। १७६३ में आक्सफोर्ड से सोलह वर्ष की आयु में "बी० ए०" करने के बाद १७६६ ई० में उसने एम० ए० की परीक्षा पास की। फिर कानून पढ़ने के बाद १७७२ ई० में उसने वकालत करने का विचार त्याग दिया और वह अपना पूरा समय विद्या के अध्ययन में लगाने लगा। सामाजिक, आर्थिक, वैधानिक और कानूनी सुधारों के प्रबल प्रवर्तक के रूप में वह शीघ्र ही ख्यातिनामा व्यक्ति बन गया।

बाल्यकाल में वह अपूर्व सतर्क प्रकृति का था। बेन्थम के पिता को उससे वकालत पेशे में बड़ी आशाएँ थीं और वह बेन्थम को बाल की खाल निकालने वाली दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति मानता था। बेन्थम बड़ा भावुक था। उसे दो चीजों से विशेष भय लगता और वह दोनों चीजें थीं बदनामी और आतंक। अपने संस्मरणों में उल्लेख करते हुए अपने सहानुभूत्यात्मक वेदना (The pain of sympathy) का विशेष उल्लेख किया है। उपेक्षितों और पददलितों के इतने बड़े भावी नेता के लिए उपर्युक्त भावना का होना एक विशेष लक्षण का परिचायक था। वह मनुष्य और अन्य जीवों के प्रति भी बड़ी सहानुभूति-यात्मक भावना रखता था। उसका विद्यार्थी जीवन के प्रारम्भिक काल में भाषा में विशेष रुचि होते हुए वह रसायन शास्त्र में विशेष रुचि रखता था। यही नहीं उसकी रुचि समस्त प्रयोगशील वैज्ञानिक विषयों में थी।

जीवन के प्रारम्भ काल के सम्बन्ध में उसने स्वयं लिखा है—"मेरा विनम्र अभिनिवेश परिश्रम जो मेरे साथ जीवन के अन्त तक रहेगा और कभी चुकेगा नहीं—उसे मैं देश की सेवा में ही लगाना चाहता हूँ।" और वास्तव में उसने ऐसा ही किया और जितना शुभ और उदात्त कार्य उसने किया है वह किसी से भी भुलाया नहीं जा सकता।

उसका प्रथम कृतित्व "Fragment on Government" नामक वह कृति है जो आकार में चाहे जैसी रही हो किन्तु जिसने सशक्त एवं निःसंकोच रूप में ब्लेकस्टोन् द्वारा अँगरेजी संविधान (English Constitution) सम्बन्धी प्रशस्ति गाथा का खण्डन किया था : इसका प्रकाशन १७७६ ई० में हुआ था और इस पुस्तक के माध्यम से वह तत्काल ही विख्यात हो गया। इस पुस्तक ने विशेषतया ह्विग पार्टी के लार्ड शेलवेन का ध्यान आकर्षित किया जो उस समय इंगलैण्ड के सिक्रेटरी आफ स्टेट थे (और बाद में मार्किस आफ लैण्टसडाउन)। वह Introduction to the Principles of Morals and Legislation के प्रकाशन के बाद स्वयं बेन्थम से मिलने आया और बेन्थम को बोउड (Bowood) के लिए निमंत्रित कर गया। बेन्थम ने इसके बाद जितनी यात्राएँ बोउड तक की उनमें से यह सर्व प्रथम थी और उसे बोउड (Bowood) में विशेष आनन्द भी मिलता था। बेन्थम को बोउड (Bowood) परिवार के सम्पर्क से केवल सहानुभूति, प्रोत्साहन और कृपा ही नहीं मिली और न यह कि वहाँ मात्र उस परिवार की सामाजिक सहृदयता अथवा ताश-शतरंज, बिलियार्ड, संगीत आदि द्वारा आनन्द प्राप्त हुआ। इसकी अपेक्षा वह उस परिवार के सम्पर्क के कारण ही ऐसे समकालीन राजनैतिक नेताओं, चिन्तकों एवम् साहित्यकारों से भी परिचय प्राप्त कर सका जैसे विलियम पिट, कैमडेन रोमिलि, ड्यूमांट वार और डनिंग (William Pitt, Camden, Romilly Dumount Barre and Dunning)

उसकी कृतियाँ बहुत बड़ी हैं और यदि उसके पत्रव्यवहार और प्रकाशित कृतियों को सम्बन्धित पुस्तकाकार रूप में निकाला जाय तो अप्रकाशित कृतियों के अतिरिक्त आठ-आठ अंकों के ग्यारह संग्रह बहुत निकट छपाई और दो कालम के पृष्ठों से युक्त जे ब्राउनिंग (J. Browing) के प्रतिष्ठित संस्करण के समान निकल पायेंगे। बेन्थम की सभी कृतियों का संग्रह विवेकपूर्ण साहित्य होगा और आज भी वह पढ़ने योग्य है। किन्तु इतना सब पढ़ने के लिए विशेष धीरज और ध्यान की आवश्यकता होगी। फ्रेगमेन्ट आन गवर्नमेन्ट (Fragment on Government) के अतिरिक्त उसकी कृतियाँ इस प्रकार हैं—ए डिफेन्स आफ यूसेरी (A Defence of Usury), १७८७ में प्रकाशित ऐन इन्ट्रोडक्सन टू दी प्रिन्सिपल आफ मारल्स एन्ड लेजिसलेशन (१८८९) (An Introduction to the Principles of Morals and Legislation), डिस्कोर्स आन सिविल एण्ड पीनल लेजिस्लेशन (१७०२)— (Discourse on Civil and Penal Legislation), ऐ थियरी आफ पनिशमेन्ट्स एण्ड रिवार्डस (A Theory of Punishments and Rewards, १८११), ए ट्रीटिज आन जूडिशियल इविडेन्स, (A Treatise on Judicial Evidence, १८१३), पेपर्स आन कोडिफिकेशन एण्ड पब्लिक इन्सट्रक्शन (Papers on Codification and Public Instruction, १८१७) दी बुक आफ फैलेसीज़ (The Book of Fallacies, १८२४)। १८२४ में ही उसने वेस्ट मिनस्टर रिव्यू (The Westminster Review) की स्थापना और संचालन प्रारम्भ किया जिसने कि जनमत को राजनैतिक, समस्या के प्रति जागरूक बनाने और बेन्थम के विचार एवम् आदर्शों को स्पष्ट करने में विशेष योग दिया था। १८२७ में उसका रैशनेल आफ एविडेन्स (Rationale of Evidence) नामक पत्र जे० एस० मिल के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ। उसके अन्तिम दिन कान्स्टीट्यूशनल कोड (Constitutional Code) नामक पुस्तक के लिखने

में व्यतीत हुए जिसके कुछ अंश १८३० ई० में उसके मरने के पूर्व प्रकाशित भी हुए थे।

बेन्थम की लेखन शैली समय के विकास के अनुसार परिवर्तित होती गई थी। उसकी आदिम रचनाएँ स्पष्टता, क्लिष्टता और तीव्रता के लिए प्रसिद्ध हैं किंतु उसके बाद की कृतियों में उकताने वाली एवम् अरुचिपूर्ण और अति व्याख्यात्मक तर्कों, वितर्कों की शैली विकसित हुई जिसका गुण अतीव विवेचनावादी और सविस्तर होने में ही है। इस शैली की सबसे बड़ी खराबी यह थी कि यह अत्यधिक पारिभाषिक (Technical) बारीकियों से लदी हुई और नये-नये शब्दों के टेढ़े-मेढ़े भद्दे प्रयोगों से अनावश्यक रूप में भरी थी। अपने युवाकाल के एक पत्र का हवाला देते हुए बेन्थम ने स्वयं लिखा है—"कुछ लोग यह कहेंगे कि वह पत्र आज की मेरी शैली की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और सुचारु रूप में लिखा गया था। वस्तुतः उस समय तक मैं निजी भाषा का विकास नहीं कर पाया था।" और उसकी निजी भाषा के विकास ने ही यह भेद-भाव उत्पन्न कर दिया था। इसके विपरीत जब हम उसके पत्रों का अध्ययन करते हैं तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके विभिन्न राष्ट्रों के बौद्धिक मित्रों (Intellectual Friends) के पत्रों में जिसमें वह राजनैतिक,(Political), बैधानिक (Legal) शैक्षिक (Educational) अथवा विधायक (Legislation) विषयों पर विचार-विनिमय करता था विशेष रूप में क्लिष्ट होते थे किन्तु जब वह दूसरों को पत्र लिखता था विशेषतः जब वह बोउड परिवार को पत्र लिखता था तो उसमें प्रांजलता और स्पष्टता होती थी। कभी-कभी अपने मनोभावों के अनुसार वह बहुत ही सरल व्यंग्यात्मक और नाटकीय शैली में भी पत्र लिखता था। किन्तु वह विशेष स्थितियों में ही हो पाता था: प्रमाण के लिए लार्ड हालैन्ड को पत्र लिखते समय गद्य और पद्य में अन्तर बताते हुए उसने लिखा है—"किन्तु महाशय नहीं...नहीं लार्ड मुझे यह भेद मालूम है गद्य (Prose) की पहचान यह है कि उसकी आखिरी पंक्ति को छोड़ कर सभी पंक्तियाँ हाशिये से शुरू होती हैं। कविता (Poetry)

में कुछ पंक्तियाँ ऐसी भी होती हैं जो हाशिये से भी छोटी होती हैं।" यद्यपि उसकी शैली दुरूह, क्लिष्ट और पारिभाषिक थी फिर भी उसके नये शब्दों और वाक्य पदों ने अंग्रेजी भाषा को अधिक समृद्ध बनाया और अन्तर्राष्ट्रीय (International), उपयोगितावादी (Utilitarian), शास्त्रीय (Codify), शास्त्रीयकरण (Codification) अतिशयोक्ति-यात्मक (Maximize) और न्यूनात्मक (Minimixe) जैसे शब्दों का योगदान दिया है। इन बातों के अतिरिक्त उसमें सजीव चित्रात्मक ढंग से सीधे अपनी बात प्रस्तुत करने की विशेष क्षमता थी। उदाहरण के लिए हम उसके सैम्युअल जानसन पर लिखे गये चारित्रिक चित्रण से एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं और उसकी शैली का निर्णय स्वयं पाठक पर छोड़ देते हैं।" "जानसन", वह कहता है, "साधारण सदाचार को फैलाने वाला है—वाक्य अक्सर मामूली और सत्य से दूर।"

उसका प्रभाव अपेक्षाकृत विदेशों पर पहले पड़ा। इसका श्रेय ऐटिनी ड्यूमन्ट (Etenne Dumont) के सम्पर्क में सर्व प्रथम बोउड परिवार में आना था जिसने फ्रान्सीसी भाषा में उसकी विधायक सम्बन्धी कृतियों (Traitis'-de Legislation civil et penal) का अनुवाद १८०२ में प्रकाशित किया। फ्रान्स, रूस, पुर्तगाल, स्पेन और दक्षिण अमेरिका ये कुछ भाग बेन्थम के चमत्कार से प्रभावित हुए। निश्चय ही बेन्थम का फ्रान्स पर इतना प्रभाव था कि फ्रांसीसी क्रान्ति के समय वह कुछ अंशों में उनका पथप्रदर्शक भी बन गया और २६ अगस्त १७९२ में फ्रान्स की राष्ट्रीय सभा (National Assembly) ने उसको फ्रांसीसी नागरिक (French citizen) की उपाधि से शोभित भी कर दिया। इस प्रकार फ्रांस ने बेन्थम की उन अपूर्व सेवाओं को जो उसने स्वतन्त्रता और मुक्ति प्राप्त के लक्ष्य में दी थी साभार व्यक्त भी किया।

अपने देश में उसके ख्याति की गति बड़ी धीमी किन्तु क्रमिक रूप में बढ़ती ही गई और धीरे-धीरे वह एक प्रतिसम्पन्न विचारकों के दल का प्रेरणा-स्रोत और क्रान्तिकारी राजनैतिक रूप में आने-जाने

लगा। यही नहीं वह संसार के विभिन्न मार्गों में व्यावहारिक सुधारों का पुरोहित-सा, पथ-प्रदर्शन एवं सुझाव देने वाले सशक्त व्यक्ति के रूप में भी प्रतिष्ठित हो गया। वह जेम्स मिल और उसके शिष्यों का समर्थन पाने में बड़ा भाग्यवान था क्योंकि उन्हीं लोगों ने बेन्थमवाद का बड़ा आवेगपूर्ण समर्थन करके उसके विचारों का प्रचार किया। सर सैम्यूअल रोमिली (Sir Samuel Romilly) जैसे प्रसिद्ध वकील भी उसके घनिष्ठ मित्र थे जिन्होंने उसको बड़ी सहायता पहुँचायी। इस प्रकार उसको रिकार्डो जैसे तरुण वर्ग के सहायक भी मिल गये जिन्होंने राजनैतिक अर्थ शास्त्रवेत्ता (Thinker on Political Economics) के रूप में बेन्थम के विचारों को प्रचारित करने में विशेष सहायता दिया। बेन्थम रिकार्डो के बारे में कहा करता था, "मैं मिल का अध्यात्मिक पिता हूँ और मिल रिकार्डो का अध्यात्मिक पिता है, इसलिए रिकार्डो मेरा आध्यात्मिक पौत्र है।" श्रेष्ठ विधान सदस्यों में से लार्ड ब्रोमेन (Broughman) से उसके बड़े घनिष्ठ सम्बन्ध थे और यद्यपि वह उसकी बहुधा आलोचना भी किया करता था फिर भी दोनों के वैयक्तिक सम्बन्ध इतने मधुर थे कि बेन्थम उसे "मेरे प्रियतम अच्छे शिशु (My dearest best boy) अथवा मेरे मधुर छोटे गुड्डे (My sweet little puppet) के सम्बोधन से पत्र लिखा करता था और लार्ड ब्रोमेन भी उसे मेरे प्रिय बुड्ढे दादा (My dear grand papa) के नाम से सम्बोधित किया करता था। यही नहीं जोसेफ ह्यूम जैसे सशक्त राजनैतिक जिनके विषय में बेन्थम का यह मत था कि केवल वही उस युग के सच्चे, ईमानदार और प्रतिभासम्पन्न नागरिक थे और जिनके विषय में उसकी (बेन्थम की) यह धारणा थी कि उस काल की शासन सत्ता में केवल वह ही सही अर्थों में जनता के प्रतिनिधि थे या सक्रिय सहयोग भी उसे मिल गया था। किन्तु जोजेफ ह्यूम से किसी भी अर्थ में सर फ्रान्सिस वार्डिट (Sir Francis Wardit) जैसे व्यक्तित्व का योगदान भी कम नहीं था। यही नहीं इस घनिष्ठता के आत्मीयता के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता

है कि वार्डिट द्वारा प्रस्तावित वोटरों के मतदान सम्बन्धी प्रस्तावों का मूल लेखक बेन्थम ही था। इसी प्रकार पार्लियामेन्ट के अन्य सदस्य डेनियल ओकार्नेल (Dannial 'O' Cornel) का सहयोग भी विशेष महत्व का था। एक बार बेन्थम ने भी पार्लियामेन्ट के सदस्य होने की इच्छा प्रकट की थी|जिसकी पूर्त्ति न हो सकने के कारण उसे बड़ा दुःख भी हुआ था। उसकी यह आशा लार्ड लैन्सडाउन्स की एक वार्त्ता से उत्पन्न भ्रम द्वारा बँधी थी जिसका आशय बेन्थम ने ही भ्रमवश यह लगाया था कि लार्ड लैन्सडाउन उसके लिए एक उपयुक्त सीट की व्यवस्था कर देंगे।

बेन्थम में कुछ अपनी सनक (eccentricities) भी थी और कुछ विशेषताएँ (peculiarities) भी। जीवन के अन्तिम काल में उसका सन्यास ग्रहण करना सर फ्रान्सिस बार्डिट के शब्दों में जो शान्ति को उस सीमा तक पहुँच गया था कि उसे एकाकी जीवन ही नितांत नैसर्गिक-सा प्रतीत होने लगता था—भी उसके व्यक्तित्व को सीमित बना देता था। किन्तु उसकी प्रकृति मूलतः सहानुभूति-प्रधान एवं स्नेहपूर्ण थी। उसकी यह चारित्रिक दुर्बलताएँ स्वयं विनष्ट हो जाती हैं और उसका वास्तविक सहज स्नेह व्यक्तित्व ही सर्वमान्य है। सर सैम्युअल रोमिली ने उसके अतिथि भाव को वर्णित करते हुए अपने फोर्ड एबी से सम्बन्धित एक वर्णन में लिखा है (इस आतिथ्य के समय भी)। हम लोगों ने बेन्थम को ठीक इसी प्रकार जीवन व्यतीत करते हुए देखा जैसा कि मैं तीस वर्ष पूर्व अपने परिचय से लेकर आज तक देखता आया हूँ। वह आज भी ६ से ८ घंटे प्रतिदिन काम करने में अर्थात् कानून और विधान सम्बन्धी लेखन और नागरिक एवं फौजदारी से सम्बन्धित शास्त्रीय विवेचन में ही लगाते हैं। शेष समय में प्रत्येक दिन वह कुछ न कुछ पढ़ते हैं या कुछ ऐसी कसरत वगैरह करते हैं जिससे वह फिर लगकर कार्य कर सकें। यदि (बेन्थम) शब्दावली में ही कहा जाय तो वह अपना शेष समय "ऐण्टीजेंटाकूलर एंड पोस्ट प्रैंडियल वाक्स" (Antejentacular and Post-Prandial Walks) में बिताता था।

यह समय भ्रमण में व्यतीत करता था ताकि वह विधायकों से सम्बन्धित नियमों का विवेचनीकरण कर सके। उसकी शब्दावली में बहुत कुछ हास्यास्पद भी लगती है। किंतु बेंथम को सही रूप में जानना बड़ा कठिन है। अस्तु, जिस किसी ने बेन्थम की उदारता, उसकी अनासक्ति और उसका वह सम्पूर्ण उत्साह जिससे अनुप्राणित हो उसने अपना सारा जीवन अपने सहबन्धुओं की सेवा में लगा दिया देखा है वह बिना उसके प्रति श्रद्धालु और आदरपूर्ण हुए रह नहीं सकता। निम्नस्तर के जीवों के प्रति दिन होने वाली अनुदारता के विरुद्ध सरकारी विधायक की माँग करने का श्रेय उसी को मिला होगा। हेन्डन (Hendon) में जहाँ कभी-कभी एकांत वास करता था, उसने एक बिल्ली पाल रखी थी जो उसके साथ-साथ वहीं की गलियों तक में चला करती थी। वह अपने अध्ययन कक्ष में छोटी-छोटी चूहियों को स्वतन्त्र रूप में खेलने देता था। वह उसके प्रति अपने मैत्री भाव की भी कभी-कभी चर्चा किया करता था। और कहा करता था—"मैं इन चूहियों के एक पूरे उपनिवेश से बड़ा परिचित हो गया हूँ। वे मेरी टाँगों पर चढ़ आती हैं और मेरी गोद में बैठ कर रोटी के गिरे हुए छोटे-छोटे टुकड़ों को खाया करती हैं वस्तुतः मैं प्रत्येक चतुष्पद से प्रेम करता हूँ।" इसी प्रकार उसकी रुचि और प्रेम प्रकृति और फूलों के प्रति भी था। वह वृक्षों और फूलों के पौधों का बड़ा शौकीन था और उसका बगीचा उसके लिए बहुत ही आनन्द और तुष्टिदायक भी था। वह केवल फूलों से स्नेह ही नहीं करता था वरन् उनको वनस्पति तत्वों के साथ जानना भी चाहता था। उसे अनजान देशों से बीज मँगा कर बोने और लगाने में बड़ा आनन्द और सुख मिलता था। ऐसे जीवों और पौधों को वह स्वयं लगाया करता था और अपने मित्रों के साथ बाँट कर खाया करता था।

बेन्थम अपने व्यवहार में बड़ा ही सभ्य और सुशील व्यक्ति था। दूसरों की सुविधा का बड़ा ही ध्यान रखता था। किन्तु यह सब होते हुए भी वह बड़े ही मौज-मस्ती और फक्कड़पन के साथ (Bohemic)

व्यवहार भी करता था। एक बार इसी मौज में उसने मदाम दी स्टेट (Madem de State) जो उससे मिलना चाहती थी, यह कहला दिया था, कि चूँकि उसको उनसे कोई भी बात-चीत नहीं करनी है, इसलिए वह यह नहीं समझता कि स्वयं वह (मदाम) को भी उससे कोई बात करने की आवश्यकता हो सकती है। ऐसा ही एक बार उसने ऐजवर्थ से जो बड़े रोब-दाब और वैभव के साथ उसके यहाँ गये थे और नौकर से यह सन्देशा भेजवाया था कि डियर्ड लावेल एजवर्थ बेन्थम से मिलना चाहते हैं तो उसने उसी नौकर से कहलवा भेजा कि डियर्ड लावेल एजवर्थ से कह दो कि मिस्टर बेन्थम को उनसे मिलने की कोई इच्छा नहीं है।

वह जीवन के आनन्द (Happiness) को भोगता था और इसीलिए वह स्वभावतः बड़ा प्रसन्नचित और आशावादी था। वह समस्त युवावस्था की स्फूर्त्ति जीवन की अन्तिम अवस्था तक संचित किये रहा। ८० वर्ष की अवस्था में भी वह इस प्रकार के वाक्य लिख सकता था––"मैं नौजवान व्यक्यिों से घिरा हुआ हूँ किन्तु उनसे भी अधिक मस्त और प्रसन्न अवस्था में मैं रह लेता हूँ।" यही नहीं वृद्धावस्था में जब उसने एक बार डेनियल ओ कानेल को निमंत्रित किया तो उसे विश्वास दिलाते हुए लिखा कि "उसके बगीचे में आयोजित यह सम्मेलन मूलतः औपचारिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी होगी" (Ambulatory conference for health)। उसी पत्र में उसने ओकानेल ('O' Cannel) को सम्बोधित करते हुए यह भी लिखा— "लेकिन मेरे इन शब्दों से डरना नहीं क्योंकि तुममें बौद्धिक चातुर्य्य का (Wit) चाहे जितना अभाव हो, मैं उत्फुल्लता में कभी भी कम नहीं रहा हूँ।"

चारित्रिक साँचे में बेन्थम बहुत ही इमानदार, स्वतन्त्र विचार वाला एवं स्वार्थरत आत्म-तुष्टि के कार्य व्यापार को मन से घृणा करने वाले व्यक्ति में से था। उसने कभी भी किसी भी व्यक्ति से मुँह नहीं

चुराया। जार्ज तृतीयने जब डेनमार्क के राजदरबार में रूस से अपना सम्बन्ध विच्छेद करने की घोषणा की तो बेन्थम ने उसका घोर विरोध किया और एन्टी मैक्याविली के छद्म नाम से उसने पब्लिक एडवरटाइजर (Public Advertiser) में कई पत्र लिखे जिसमें जार्ज तृतीय की युद्धजनित मनोवृत्ति की उसने घोर निन्दा की और उसे जनता का अपमान कह कर घोषित किया। बेन्थम के इन पत्रों का उत्तर एवम् उसकी घोर आलोचना करते हुए पार्टिजन (Partisan) के नाम से बाद में प्रकाशित किये गये। जब उसे यह पता चला कि उन पत्रों का लेखक स्वयं जार्ज तृतीय है तो उसने कहा, "मैं सम्राटों में से सबसे उदार सम्राट पर दुहरे तीखे मन के साथ आक्रमण कर बैठा।" उसको यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि उसके इस व्यवहार के कारण ही उसकी अत्यन्त मनोवांछित कामना को, (अर्थात् कार्यक्रम (Panopticon Scheme) जो व्यवहारिक रूप से अपराधियों के प्रति आचार से सम्बन्धित था और जिसे पार्लियामेन्ट की दोनों सभाओं की अनुमति प्राप्त थी)—सम्राट ने जान-बूझ कर नहीं कार्यान्वित होने दिया। ठीक इसी प्रकार से जब रूस के प्रशासक ज़ार ने बेन्थम के विचारों से प्रभावित होकर रूस के लिए एक विधायक बनवाना चाहा और उपहार स्वरूप एक हीरे की अँगूठी उसे भेजी तो बेन्थम ने उसके भेजे हुए पैकट के मुहर को बिना खोले ही वापस कर दिया ताकि किसी भी प्रकार से उसके कार्य पर आर्थिक धब्बा का आरोप न लगाया जा सके। एक बार इसी तरह उसने लार्ड विलिंगटन और लार्ड वेनचेस्ली (Lord Willingdon and Lord Venchelse) के बीच हाथापाई हो जाने के अवसर पर उसने लार्ड विलिंगडन को फटकारते हुए "इल एडवाइज़्ड मैन" (Ill advised man) के शीर्षक से एक पत्र लिखा था जिसके अन्तिम वाक्य इस प्रकार थे—"अब यदि तुममें अपने वैयक्तिक और शारीरिक शक्ति में वैयक्तिक शक्ति का योग देने का साहस हो तो मैं तुमसे यह आग्रह करूँगा कि अब तुम निम्नलिखित कार्य करो। लार्ड सभा (House of Lords) मे जाओ। अपने स्थान पर खड़े होकर अपनी गलती स्वीकार करो। अपने

प्रायश्चित की घोषणा करो और यह कहो कि तुमने अपने देश और राज्य सत्ता के प्रति द्रोह का कार्य किया है। साथ ही यह वचन भी दो कि अब से भविष्य में किसी भी अवसर पर तुम दो स्थितियों में से किसी भी एक स्थिति का आचरण नहीं करोगे अर्थात् न तो तुम कभी किसी उपर्युक्त प्रसिद्धता को चुनौती दोगे और न किसी अन्य द्वारा चुनौती दिये जाने पर उसे स्वीकार करोगे। यही नहीं तुम इस प्रकार देने वाले (Giver) या स्वीकार करने वाले (Accepter) के अपराध फिर कभी भी नहीं करोगे।"

बेन्थम जैसे व्यक्तित्व का एक अद्वितीय स्थान प्रत्येक देश में होता है। वह व्यक्तित्व कभी भी (जनमत) में शक्ति का अभाव नहीं पाता। बहुत-से स्वतन्त्र विचारकों की भाँति वह भी कुछ अर्थों में प्रमाद-पूर्ण और भावुक था और कभी-कभी अनावश्यक रूप से कुछ विषयों पर अपना मतवैभिन्य भी प्रदर्शित कर देता था। किन्तु अपनी भूल मालूम पड़ने पर वह प्रायश्चितपूर्ण शब्दों में अपने विचारों को ईमानदारी के साथ सुधार लेता था।

बेन्थम के चरित्र की यह भी एक विशेषता थी कि वह सदैव उनके प्रति उदार व्यवहार और संवेदनात्मक सहानुभूति रखता था जो उस समय के राजनैतिक खींच-तान और जोश के भुक्तभोगी थे। वह बहुत से आन्दोलनों और बहुत से व्यक्तियों को अपने पैसे की सहायता से विकसित करता रहता था। उसके पास इतना उदार हृदय था कि वह यह सब कर लेता था। साथ ही उसके पास आर्थिक साधन भी थे इसलिये वह उन सबको निभा भी लेता था। उसके अंदर वह क्षमता इसलिये थी क्योंकि उसके पिता की मृत्यु के बाद उसे इतनी बड़ी सम्पत्ति मिली थी कि उसके सहारे (इन तमाम कार्यों के बावजूद) जीवन के अन्त तक अविवाहित रूप में कार्ययापन करता रहा।

उसकी दूसरों की प्रति विचारशील रहने वाली प्रवृति जिसने उसके चरित्र को जीवन के आरम्भिक काल में सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ उभार

कर प्रस्तुत किया था। जब उसे अपने जीवन के अन्त काल का अनुभव होने लगा तो उसने अपने नौकरों को भी अपने सामने से हटा दिया ताकि वह उसके अन्तिम संघर्ष को देखकर अनावश्यक पीड़ा और वेदना का अनुभव न कर सके। उसने केवल अपनी जीवनी-लेखक जान् बावरिंग (Jhon Bowering) और घरेलू नौकर को ही जीवन के अंतिम क्षणों में अपने पास रहने की ।अनुमति दी थी। कहा जाता है जान बावरिंग की जाँघों पर अपना मस्तक रख कर वह दिवंगत हुआ।

बावरिंग (Bowering) न इसका वर्णन करते हुए कहा है—"जब उसकी बाणी बन्द हो गई तो उसने एक हल्की मुस्कान के साथ मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया। उसने मुझे बड़े स्नेहपूण दृष्टि से देखा और फिर आँखें बन्द कर लीं। उसके इस अन्तिम प्रयाण में न तो कोई संघर्ष था और न कोई पीड़ा थी। जीवन धीरे-धीरे मृत्यु में ऐसा विलीन हो गया जैसे गोधूलि बेला का अन्धकार दिवस के उज्वल प्रकाश का निर्माण कर रहा हो।

उसकी अन्तिम वसीयत के अनुसार उसका शव शरीर रचना के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए चीड़ा-फाड़ा गया। उसके शरीर के कंकाल को यूनिवरसिटी कालेज लन्दन (University College London) में चेहरे पर एक मोमजामे का नक़ाब और बेन्थम के नित्य प्रति प्रयोग में आनेवाले वस्त्रों को पहना कर सुरक्षित रखा गया है।

अध्याय ३

बेन्थम के नैतिक विचारों का दार्शनिक रूप

अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेजी नैतिक-दर्शन (Moral Philosophy) में बड़े विरोधी तत्वों एवम् विचारों का प्रदर्शन हुआ है। विशेषतया नैतिक प्रतिमानों (Ethical Standards) और नैतिक शक्तियों की प्रकृति (Moral faculty) इन दो स्तरों पर इस काल में बहुत विरोधी विचार रहे हैं। इस काल में हचसेन (Hutcheson) और शेफ़्टसबरी (Sheftesbury) जैसे दार्शनिक थे जो नैतिक बोध (Moral Sense) के समर्थक माने जाते थे। इन्होंने आत्म-शक्ति को भावना से मिलाकर प्रस्तुत करने की चेष्टा की और औदार्य (Benevolence) को मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ नैतिक-दायित्व मान लिया। कुछ लोग नैतिक-दर्शन में सहज ज्ञान मार्गी (Intutive) पक्ष को लेकर आगे आये जिनमें से बिशप बटलर (Bishop Butler) का नाम सर्वश्रेष्ठ है। इन्होंने आत्म-शक्ति (Conscience) को निरपेक्ष स्वतन्त्र शक्ति स्रोत (Faculty) के रूप में स्वीकार किया। और इस शक्ति को इन्होंने बौद्धिक गुणों से सम्पन्न मानते हुए यह कहा कि मनुष्य कि आत्म-शक्ति का आचरण स्वगत और विलक्षण शक्तियों के साथ सम्पन्न होता है। इसी प्रकार स्काट-लैण्ड निवासी टामस रीड (Thomas Reid) नामक विचारक ने उस साधारण बुद्धि (Common Sense) पर विशेष बल दिया जिसको बीयटे (Beattie) ने अक्षुण्ण आन्तरिक ज्योति के रूप में प्रतिष्ठित किया था। ठीक उसी प्रकार टामस रीड भी साधारण बुद्धि (Common Sense) की अभिव्यक्ति को अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार करता था और उसे विश्व मत द्वारा समर्थित और साधारण मनुष्यों द्वारा व्यवहरित मानता था। दूसरी

ओर रिचर्ड प्राइस (Richard Price) और उनके अनुयायी थे जो नैतिक धारणा (Moral Perceptions) को विवेकसंगत एवम् शंकारहित धारणा के रूप में स्वीकार करते थे। वाल्स्टन (Walleston) समस्त नैतिकानुभूति को सत्यानुभूति अथवा सत्य की बौद्धिक धारणा के रूप में मानता था। उसी समय बर्नार्ड डी० मैण्डिवेली (Bernerd de Mandeville) और उसके शिष्यगण इस बात पर अधिक बल देते थे कि सदाशयता (Virtue) को मात्र आत्म-रुचि (Self Interest) का ही समर्थन मिल पाता है। एडम स्मिथ भी इसी काल में था जो समस्त कर्तव्य निष्ठाओं और अनिष्ठाओं का मूलाधार सहानुभूति (Sympathy) मानता था। इन्हीं के बीच ह्यूम (Hume); प्रीस्टले (Priestlay) और पेलै (Paley) जैसे उपयोगितावादी विचारक भी थे जिन्होंने नैतिक तथ्यों को बिल्कुल धार्मिक पृष्ठभूमि के साथ प्रस्तुत किया और सदाशयता (Virtue) को ईश्वर प्रेरित आज्ञा एवम् मानव जाति के कल्याण एवम् अनन्त आनन्द को प्राप्त करने की प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया था। इनके अतिरिक्त डैविड हार्टले (David Hartley) नाम का एक सम्पर्कवादी (Associationism) था जिसे प्रबुद्ध तर्कोक्तियों द्वारा अरुचि (Disinterestedness) और आत्म-शक्ति की सारहीनता एवम् उससे सम्बन्धित अन्य विचारों की उपयोगिता को व्यक्त करने में पूर्णतया सफल था।

उपर्युक्त विचारों को स्वीकार करते हुए (यद्यपि बेन्थम इनमें से प्रत्येक विचारधारा से पूर्णतया परिचित नहीं था) बेन्थम ने कुछ की कटु आलोचन और कुछ से आंशिक सहमति प्रकट करते हुए अपनी कृतित्व की रचना प्रारम्भ की थी।

१—बेन्थम के दार्शनिक विचारों के मूलतत्व हमें उसकी पुस्तक 'इन्ट्रोडरेशन टू दि प्रिन्सपल्स आव मारेल्स एण्ड लेजिस्लेशन' (Introduction to the Principles of Morals and Legislation) की प्रथम पंक्ति से ही मिल जाते हैं जहाँ वह कहता है—"प्रकृति ने मनुष्य को दो प्रमुख सत्ताओं का आश्रित बनाया है जिसमें से एक पीड़ा (Pain)

है और दूसरा आनन्द (Pleasure) है। पीड़ा और वेदना ही हमारे लिए कर्तव्यों का निर्णय करते हैं—इन दोनों सत्ताओं के सिंहासन के एक छोर पर उचित, अनुचित के प्रतिमान, कारण एवम् कार्य के प्रभाव से बँधे हुए हैं। वे हमको और हमारे प्रत्येक कथनी और करनी को प्रशासित करते हैं। जितना अधिक हम इन सत्ताओं को अपने से अलग करके मुक्त होना चाहते हैं उतना ही वे अपनी अनिवार्यता हम पर आरोपित करते हैं।...उपयोगिता का सिद्धान्त इन दो मूल प्रेरकों की पराधीनता को स्वीकार करता है और यह मान कर चलता है कि उसकी व्यवस्था की जड़ों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। उपयोगिता के सिद्धान्त का यह भी लक्ष्य है कि वह सुख के धागों को विवेक और विधायकों (Law) के हाथों से जोड़ कर प्रस्तुत करे। उपयोगिता का सिद्धान्त आधुनिक जीवन के समस्त कार्य विधियों के मूल में व्याप्त है।"

आगे चल कर वह यह भी कहता है कि—"उपयोगितावाद के सिद्धान्त (Principle of Utility) का मुख्य आशय उस सिद्धान्त का निरूपण है जो किसी भी कार्य की स्वीकृति और अस्वीकृति की विवेक शक्ति प्रदान करता है। उपयोगितावाद प्रत्येक कार्य की स्वगत, प्रवृत्ति द्वारा पक्ष या विपक्ष के आनन्द-साधन या आनन्द-पतन के मन्तव्यों के आधार पर निश्चित निर्णय की क्षमता भी देता है[1]"

उपयोगितावाद की व्याख्या करते हुए वह आगे कहता है कि—"उपयोगितावाद वह सिद्धान्त है जो किसी भी कार्य की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति स्वतः उस कार्य-विधि की प्रवृत्ति द्वारा व्यक्त आनन्द साधन या आनन्द पतन के मन्तव्यों पर आधारित है। दूसरे शब्दों में यह सिद्धान्त किसी भी कार्य को उसके द्वारा सम्भावित आनन्द की उपलब्धि अथवा आनन्द की क्षति के अध्ययन से निर्णय करता है। इसलिए मैं प्रत्येक कार्य (Action) के विषय में यही कहता हूँ और इसीलिए जब मैं प्रत्येक कार्य के (उपर्युक्त सिद्धान्तों द्वारा निर्णीत करना चाहता हूँ) विषय में कहता हूँ तो मेरा मतलब मात्र वैयक्तिक व्यक्तियों

तक ही सीमित नहीं हैं वरन् उसमें शासन व्यवस्था के प्रत्येक कार्य भी सम्मिलित हैं।" इसी प्रकार उपयोगिता की जैसा बेन्थम के विषय का मत था—"उपयोगिता किसी भी वस्तु का वह गुण है जो लाभ, सुविधा, आनन्द, शुभ और सुख (जिन सब का अन्ततोगत्वा एक ही अर्थ होता है) को परिष्कृत करता है (जिसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है) कि उपयोगितावाद सुख और आनन्द में बाधा डालने वाली बदमाशी, पीड़ा, बुराई और दुख का निवारण करके और वास्तविक आनन्द की उपलब्धि में सहायक होता है। वह समुदाय का पक्ष सामुदायिक आनन्द और सुख की स्थापना में सहायक होता है और यही नहीं वह वैयक्तिक हित और वैयक्तिक आनन्द में भी सहायक होता है।

अस्तु उपर्युक्त संदर्भ में बेन्थम के सिद्धान्त किन स्थितियों में प्रयुक्त हो सकते हैं इस पर भी विचार करना आवश्यक है। वस्तुतः वे सिद्धान्त मात्र नैतिक (Morals) क्षेत्र में नहीं प्रयुक्त होते वरन् उनका प्रयोग विधायकों के क्षेत्र में भी है। और यदि वास्तविक रूप से देखा जाय तो उसका मुख्य उद्देश्य अपने सिद्धान्तों को वैधानिक, विधायक के सुधार और कानूनों के सुधार के लिए प्रयुक्त करना है। दूसरे शब्दों में उसके दृष्टिकोण में जीवन्त एवम् व्यवहारिक हितों का ही महत्व रहा है और इसी कारण वह कोरी काल्पनिकता वाले मतवाद के प्रति कोइ भी दिलचस्पी नहीं रखता। वह यउपोगिता के सिद्धान्त की जगह पर सर्वाधिक आनन्दवाद का सिद्धान्त अधिक प्रयुक्त करता है। आनन्दवाद का प्रयोग करते हुए उसने उस सिद्धान्त को "सर्वाधिक व्यक्तियों को सर्वाधिक आनन्द प्राप्त करने का सिद्धान्त" के नाम से भी सम्बोधित किया है। उसकी चिन्तना मुख्यतः शुभनिष्ठ है अर्थात् वह समुदाय के कल्याण से अनुप्राणित होती है। उसका सम्बन्ध केवल वैयक्तिक आनन्द से नहीं है। इसके विपरीत वह उस समुदाय के कल्याण की बात सोचता है जो विभिन्न व्यक्तियों के सामूहिक योग से बना है। इसीलिए जब वह व्यक्ति काप्रयोग करता है तो उसका आशय उस व्यक्ति से है जिसका आनन्द-भाव उसके सहयोगियों

के सहयोग से उपलब्ध होता है। वह हर कार्य और हर विधायक को उसके द्वारा निर्धारित प्रभावों और परिणामों के व्यापक आधार पर आँकता है। वह यह मानता है कि ये विचार और प्रभाव अपने परिणामों द्वारा ही विकसित होते और मिटते हैं। दूसरे वाक्यों में उपयोगिता का सिद्धान्त सर्व शक्तिमान है और उसकी अभिव्यक्ति इन तथ्यों में पाई जाती है कि मनुष्य प्रत्येक स्थिति में इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर आचरण करता है। यहाँ तक कि वे जो इस सिद्धान्त की आलोचना करते हैं वे स्वयम् इस पूर्वग्रह को मान लेते हैं कि यह शक्ति प्रमुख और सबसे महत्वपूर्ण है; और (अ) सन्यास मार्ग (Asceticism) अथवा पीड़ा से प्रेम करने वाली प्रवृत्ति (ब) सहानुभूति (Sympathy) या वितृष्णा (Antipathy); व्यक्तिगत रुचि या अरुचि : जो उपयोगितावाद के विरोधी विचार माने जाते हैं मूलतः वे भी इस सिद्धान्त की दर्पयुक्त स्थिति के परिचायक हैं। बेन्थम ने उन प्रचलित दार्शनिक मार्गों के सिद्धांतों की निन्दा करते हुए उनके द्वारा स्थापित उचित-अनुचित (Right and wrong) के मतवाद को ऐसी वितृष्णा पूर्ण (Antipathy) एवम् पूर्वग्रह जनित विचार पद्धति माना है जो बहुधा पक्षपात के आधार पर विकसित होता है। इसीलिए वह इन समस्त सिद्धान्तों का विवेचन करके उनको तिरस्कृत कर देता है।

अस्तु जब पीड़ा और आनन्द जीवन सर्वप्रधान तत्व हैं तो सैद्धान्तिक और व्यवहारिक स्तर पर समान रूप से उनके स्रोतों को जानना और निश्चित करना भी आवश्यक है। इसके अध्ययन के सिलसिले में हमें बेन्थम द्वारा स्थापित आनन्द और पीड़ा के उन तत्वों का अध्ययन करना होगा जिन्हें उसने रचना-तत्व (Constituents) के रूप में माना है, क्योंकि वह सुख की चरम स्थिति को और आनन्द की स्थिति को, वेदना-शून्य स्थिति मानता है। दूसरे शब्दों में वह इस स्थिति को, पीड़ा को भोगने के बाद की शेष स्थिति (Surplus of pleasure over pain) मानता है। इसकी व्याख्या करते हुए उसने आगे यह भी कहा है कि जब उसने चरम आनन्द के सिद्धान्त को प्रीस्टले (Priestley) के द्वारा

प्रयुक्त होते पाया था तो उसके जी में यह प्रश्न उठा था कि यदि उसने स्वयम् बेसेरिया (Bacceria) का अध्ययन या हचिन्सन (Hutchenson) का अध्ययन किया होता तो उसे वे शब्द प्रीस्टले के पूर्व ही मिल गये होते। किन्तु चरम आनन्द (Greatest happiness) की आलोचना करते हुए वह कहता है कि प्रीस्टले के पास इस शब्द की समस्त सम्भावनाओं को अनुभव करने की क्षम्य दृष्टि नहीं थी। वह (प्रीस्टले) यह नहीं देख सका कि आनन्द की वास्तविक स्थिति पीड़ा के अभाव की स्थिति है। अस्तु, बेन्थम ने आनन्द के जिन चार रचना तत्वों को प्रमुख माना है वे शारीरिक (Physical) नैतिक (Moral) राजनैतिक (Political) और धार्मिक (Religious) ही हैं। इन में से कोई न कोई तत्व पीड़ा अथवा सुख से संचालित होकर कानून या आचरण के निर्माण को अनिवार्य शक्ति के रूप में प्रस्तुत होने का समर्थन (Sanction) देता रहता है। जब कोई भी पीड़ा या सुख की स्थिति सहज प्राकृति रूप से हमारे सामने प्रस्तुत होती है और उसके मूल में स्वार्थपूर्ण ढंग से इच्छा शक्ति द्वारा कोई हस्तक्षेप नहीं होता तो यह शारीरिक अनुभूति के समर्थन (Sanction) से अभिभूत होती है। मिसाल के लिए जैसे संयम स्वास्थदायक होता है इसलिए वह आनन्द को भी जन्म देता है। रोग सदैव असंयम के कारण ही जन्म पाते हैं अर्थात् शारीरिक (Physical) आनंद को सहज और प्राकृतिक समर्थन प्राप्त होता है। जब सुख-दुःख का बोध किसी अधिकृत सत्ता द्वारा पूरे समुदाय में व्यक्त होता है और ऐसे लोगों द्वारा समूचे समुदाय पर प्रयुक्त होता है जो किसी न किसी रूप में उनके शासक होते हैं तो उसको राजनैतिक समर्थन (Political Sanction) अथवा देश के कानून (Law of the Land) के रूप में जाना जाता है। इसी प्रकार नैतिक-समर्थन (Moral Sanction) में जनमत का बहुत बड़ा हाथ होता है। वस्तुतः इसे नैतिक समर्थन न कह कर लोकप्रिय (Popular) समर्थन कहना अधिक उचित होगा। धार्मिक-समर्थन (Religious Sanction) का सम्बंध हमारे

ईश्वर सम्बंधित विश्वास पर आधारित होता है जो वर्तमान और भविष्य के संदर्भ में हमारे जीवन और ईश्वरीय सम्बंधों को स्पष्ट करता है।

प्रस्तुत परिवेश में नैतिक-निष्ठा, और विधायक (Legislator) दोनों की समस्याएँ स्पष्ट हो जाती हैं। कर्तव्यनिष्ठ (Moralist) और विधायक (Legislator) दोनों ही एक लक्ष्य द्वारा प्रचालित होते हैं। यद्यपि दोनों की पद्धतियाँ भिन्न होती हैं फिर भी दोनों विभिन्न समर्थनों (Sanctions) को व्यक्ति और समिष्टि के कल्याण के लिए आचरित करते हैं और मानव आनंद की अभिवृद्धि की समस्याओं को आन्दोलित होते हैं।

किन्तु आनन्द और पीड़ा में बहुत भेद है। यह भेद उनके स्रोतों की विभिन्नता के स्तर पर नहीं वरन् मूल्यों (Values) के स्तर पर होता है। अस्तु, अब हमारे लिए आनंद और पीड़ा को मापने की पद्धति पर विचार करना आवश्यक हो गया है। विधायक (Legislator) की दृष्टि अधिक से अधिक आनंद अर्जित करना और उसका वितरण करना है। दूसरे शब्दों में वह ऐसा कानून बनाना चाहता है जो आनंद की मात्रा को पूरे समुदाय में समान रूप से सब को सुलभ रूप में प्रदान कर सके— "एक को केवल एक-एक से अधिक नहीं" वाले सिद्धांत के अनुसार वह यह समानता स्थापित करना चाहता है। किंतु यह सिद्धांत नैतिक चिंतक के आचरण पर भी लागू होता है। और तब प्रश्न यह उठता है कि फिर ऐसी स्थिति में व्यक्ति का मूल्य कैसे आँका जाय ? इस पक्ष से कई व्यक्तियों के सम्वेत मूल्य और उनके वैयक्तिक मूल्यों से सम्बद्ध सामाजिक मूल्यों का कैसा निराकरण हो ?

जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है पीड़ा और आनन्द की आत्मानुभूति चार तत्वों पर आधारित है—उसकी तीव्रता (Intensity), उसकी अवधि (Duration); उसकी निश्चयात्मकता, अनिश्चयात्मकता (Certainty or Uncertainty) और उसकी निकटता अथवा दूर-स्थता (Propinquity or Remoteness), इसके अतिरिक्त यदि

किसी भी आनन्दानुभूति अथवा पीड़ानुभूति के मूल्यों को मात्र उसी के माध्यम से आँकना है तो दो वस्तुओं को और भी ध्यान में रखना अनिवार्य है---उसकी धारणा शक्ति (Faculity) अर्थात् (यह कि एक प्रकार की संवेदना (Sensation) उसी प्रकार की अनुभूति प्रदान करे—अर्थात् आनन्द की संवेदना से आनन्द की अनुभूति और पीड़ा की संवेदना से पीड़ा ही की अनुभूति अर्जित हो) और उसकी विशुद्धता (Purity) अर्थात् (यह कि संवेदना की विरोधी अनुभूति न विकसित हो) अर्थात आनन्द की संवेदना से पीड़ा और पीड़ा की संवेदना से आनन्द की अनुभूतियाँ न विकसित हों।।

जहाँ तक व्यक्ति-समूह ("Collection of Individuals) का सम्बन्ध है केवल उपर्युक्त छः तत्वों अर्थात तीव्रता, अवधि, निश्चयात्मकता अथवा अनिश्चयात्मकता, निकटता अथवा दूरस्थता, धारणाशक्ति और विशुद्धता ही पर्याप्त नहीं हैं। इनके अतिरिक्त एक सातवाँ तत्व भी महत्वपूर्ण है और वह है आनन्द और पीड़ा का विस्तार-क्षेत्र। (The extent of pain and pleasure) एक आनन्दानुभूति अथवा पीड़ानुभूति कितने व्यापक क्षेत्र में व्यक्तियों को प्रभावित करती है।

इस प्रकार (आनन्द और पीड़ा को मापना) या एक प्रकार से आनंद और पीड़ा को किसी विशेष स्थिति में मापना एवम् उनके संतुलत संकेत द्वारा मूल्य निर्धारित करने की प्रक्रिया भोगवाद के आधार पर ही सम्भव है (Hedonistic Calculus)। सैद्धांतिक रूप से यह नितांत पूर्ण प्रक्रिया है किंतु वास्तविक व्यवहार में, ग्रेट ब्रिटेन जैसे सभ्य देश में यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक नैतिक एवम् कर्तव्य प्रधान निर्णय को उपर्युक्त प्रक्रिया के माध्यम के साथ आरोपित किया जाय। इतनी लम्बी प्रक्रिया हमारे लिये संक्षिप्त भी हो सकती है क्योंकि हम एक ऐसे संगठित समुदाय में रहते हैं जहाँ हमारे साथ रीति-रिवाज, कानून, नियम, संस्थागत पथ-प्रदर्शन विभिन्न महत्वपूर्ण अनुभूतियों का आधार, अनिवार्य और महत्वपूर्ण होता है।

यदि उपयोगितावाद का सिद्धांत नैतिक और राजनैतिक

सम्बन्धों की व्याख्या को पूर्ण रूप से प्रस्तुत करने में समर्थ है और उसकी दृष्टि में विधायकों द्वारा कुछ करने की निष्ठा है तो इन सबसे अधिक आवश्यक आनंद और पीड़ा के विभिन्न रूपों की संख्या गिन लेना है। बेन्थम ने इस कार्य को विधिवत रूप में सम्पन्न किया है। सरल (Simple) और जटिल (Complex) आनंदानुभूति और पीड़ानुभूति का वर्गीकरण करके उनके अंतरों को प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसने काफ़ी गहराई के साथ विस्तार में सरल आनंदानुभूति और पीड़ानुभूति का विश्लेषण करते हुए आनंद को चौदह प्रकारों में और पीड़ा को बारह प्रकारों में विभाजित किया है। सरल आनंद (Simple pleasures) के निम्न प्रकार हैं : यह इंद्रीय (Sense), वैभव (Wealth), कौशल (Skill), सद्भाव(Amity), यश (Good name); अधिकार (Power); धर्मिष्ठता (Piety); उदारता (Benevolence); पर पीड़ावादिता (maleviolent); स्मृति (Memory); कल्पना (Imagination); आशा (Expectation); सम्पर्क (Association) और अवकाश (Relief) प्रकार की होती है। इसी प्रकार सरल पीड़ा भी व्यक्तिगत (Private); इंद्रीय (Senses); विरूप (Awkwardness); शत्रुता (Enemity); अपयश (Ill-name); धर्मिष्ठता (Piety); उदारता (Benevolence); पर पीड़ा (malevolence); स्मृति (Memory); कल्पना (Imagination); आशा (Expectation) और सम्पर्क (Association) प्रकार की होती हैं। यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त आनंद और पीड़ा का वर्गीकरण किसी वैज्ञानिक या तार्किक आधार पर नहीं किया गया है। यह न तो विश्लेषणात्मक है और न इसके संदर्भित तत्व (members) किसी भी स्थिति में पूर्णतया अंतिम माने जा सकते हैं। यह वर्गीकरण केवल व्यावहारिक पूर्ति के लिए आवश्यकतानुसार और साधारण रूप से निर्धारित किये गये हैं।

इस सम्बन्ध में भाव-बोध (Sensibility) को प्रभावित करने वाली विभिन्न स्थितियों का अध्ययन विशेषकर विधायक और नैतिक

आग्रहियों की दृष्टि से परम आवश्यक है। बेंथम ने इन विभिन्न स्थितियों का वर्गीकरण इकतीस रूपों में किया है। यहाँ हमें उन इकतीसों का जानना आवश्यक नहीं है। उनमें से केवल स्वास्थ्य (Health) शारीरिक कृत्रिमता (Bodily Imperfecrion); ज्ञान की मात्रा और उसका गुण, बौद्धिक शक्तियों की गत्यात्मकता (Strength of intellectual powers), आत्म-रुचि और आत्म-प्रवृत्ति (Bent or Inclination) धार्मिक और नैतिक भावबोध और पक्ष धरता (Moral and religious sensibility and wises) आर्थिक परिस्थिस्तियाँ (Pecuniary Circumstances), पद (Rank) शिक्षा (Education) शासन (Government) इत्यादि का जानना ही प्रमुख लक्ष्य है।

अब मानव आचरण के मूल्यांकन करने एवम् साधारण रूप से अध्ययन करने के लिये, बहुत-सी चीजें स्पष्ट हो गई हैं। विशेषितयः उचित-अनुचित (Right Wrong) के नैतिक पक्ष, शिव अशिव (good evil) योग्य अयोग्य (Merit Demerit) से सम्बन्धित मानव आचरण और उससे सम्बंधित दण्ड और तिरस्कार के मान दण्ड, जिन्हें नैतिकाग्रही और विधायक प्रयोग में लाते हैं, उनका भी अध्ययन करना सरल हो गया है।

किसी भी आचरण की नैतिकता के लिये विधान की प्रक्रिया का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना और विधायक के उद्देश्यों को ध्यान में रखना नितांत आवश्यक है। यही नहीं आचरण और विधायक की उस जागरूकता का भी अध्ययन आवश्यक है जो उद्देश्य के परिणामों को निर्धारित करती है। अस्तु, मात्र उद्देश्य ही नहीं, उसके साथ उसके प्रतिभासित परिणामों से पुष्ट प्रबुद्धता का भी अध्ययन करना अनिवार्य है। प्रवृत्ति (Motives) के परीक्षण के साथ-साथ उपर्युक्त दोनों स्थितियों का ज्ञान आवश्यक है। उद्देश्य और प्रवृत्ति (Intention and Motive) का अर्थ इस संदर्भ में कभी भी समान नहीं हो सकता। प्रमाण के लिए एक विशेष आचरण के करने में हो

सकता है एक व्यक्ति का उद्देश्य अपने पड़ोसी को लाभ पहुँचाना हो किंतु वह प्रवृत्ति जो उसे आचरण विशेष को करने की प्रेरणा देती है, हो सकता है पड़ोसी के प्रति आदर भाव से प्रेरित होकर उपजी हो। यही नहीं, हो सकता है कि उसके किसी मित्र ने पड़ोसी के लिये ऐसा करने का विशेष आग्रह किया हो। अस्तु, प्रवृति (motive) आचरण करने को उद्यत (prompt) करती है और आचरण स्वतः उद्देश्य द्वारा परिचालित होता है। इस प्रकार प्रवृत्ति (motive) और उद्देश्य कभी भी एक दूसरे से सम्बंधित नहीं होते।

प्रस्तुत परिवेश में बेन्थम उद्देश्य की भेद व्याख्या ठीक उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कोई भी दार्शनिक वकील कार्य-उद्देश्य और परिणाम-उद्देश्य (Intending an act and intending its consequences) को लेकर करता है। यह निर्विवाद है कि दोष और दायित्व के विभाजन करने में कर्ता के लक्ष्य पर बहुत-सी चीजें निर्भर करेंगी। यदि कोई भी मज़ाक व्यावहारिक स्तर पर किसी व्यक्ति को ऐसी वेदना पहुँचा देता है जो कि कर्ता का उद्देश्य नहीं था तो भी वह उस व्यक्ति को बिना उद्देश्य चोट पहुँचाने का गम्भीर दायित्व मात्र इससे कम उद्देश्यहीनता के कारण कम हो जाता है। ठीक उसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति ने केवल चोट पहुँचाने के उद्देश्य से मज़ाक किया है तो यद्यपि लक्षित व्यक्ति को चोट भले ही न पहुँचे फिर भी मज़ाक के विफल हो जाने पर वह अपराध से मुक्त नहीं किया जा सकता।

यदि नैतिकाग्रही (Moralist) की दृष्टि से देखा जाय तो यह सिद्धांत काफ़ी स्पष्ट हो जाता है किन्तु न्याय और विधायक के स्तर पर इसका निर्वाह बड़ा कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष आचरण अथवा प्रत्यक्ष परिणामों की संगतियों को देखना बहुत अनिवार्य हो जाता है। न्यायालय में एक न्यायाधीश की दृष्टि में किसी भी अपराधी ने या तो कोई अपराध किया है या नहीं किया है और इस स्थिति में सबूत

(Evidence) के आधार पर या तो वह दण्ड पाता है या मुक्त हो जाता है। विधायक-स्तर पर यही एक जटिल स्थिति बन जाती है।

प्रवृत्ति (motivc) के सम्बन्ध में बेन्थम का यह नियमित मत है कि वह उद्धृत (prompt) करने की शक्ति द्वारा मानव आत्म-बल (Will) को परिचालित करती है। विवेचना द्वारा यह सिद्ध होता है कि इस उद्धृत करने की प्रक्रिया में आनन्द या पीड़ा को ही अभिव्यक्ति मिलती है। इस प्रकार प्रवृत्ति (Motive) मूलतः सिवा एक निश्चित विधि के अनुसार घटित होने वाली आनन्द या पीड़ा की भावना के और कुछ नहीं है। यही नहीं बेंथम विशेष आग्रह के साथ यह कहता है कि प्रवृत्तियाँ (motives) स्वतः सदैव अच्छी या बुरी नहीं होतीं वरन् प्रत्येक प्रवृत्ति (motive) अपने निजी संदर्भ और अकेली परिस्थिति के अनुसार अच्छी या बुरी होती है। विशेषतया उनकी अच्छाई या बुराई का निर्णय उन उद्देश्यों के माध्यम से होता है जिन्हें वह जन्म देती है अथवा जिनसे वह स्वयम् उपजती हैं, और वस्तुतः उनका तात्विक अंश यही प्रभावजनित स्थितियाँ होती हैं। कोई भी प्रवृत्ति तभी अच्छी होती है जब वह अच्छे लक्ष्य को जन्म देती है। इसी प्रकार वह तभी बुरी होती है जब वह बुरे लक्ष्यों को जन्म देती है। इन स्थितियों के अतिरिक्त कोई भी उद्देश्य अपनी भौतिक परिणतियों के आधार पर अच्छा या बुरा होता है।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि बेन्थम विस्तार पूर्वक विश्लेषण के साथ आचरण के स्रोतों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस आचरण स्रोत (Springs of Action) की प्रवृत्ति की व्याख्या उसने एक बहुत बड़े शीर्षक के अन्तर्गत किया है। इस विश्लेषण को पढ़ने से यह स्पष्ट पता चलता है कि एक विद्याभिमानी की भाँति निश्चित वह पारिभाषिक शब्दावली के प्रति (pedantic) आसक्त था। अस्तु, उसकी व्याख्या करते हुए वह कहता है—"आचरण-स्रोत की सूची में आनन्द और पीड़ा की विभिन्न जातियाँ (Species) होती हैं जो मनुष्य की प्रवृत्ति द्वारा अनुशासित होती हैं। इसके साथ-साथ उसके हितों और रुचियों की,

इच्छाओं और प्रवृत्तियों की, विभिन्न जातियाँ ठीक प्रकृति के समान होती हैं। इसी प्रकार आचरण स्रोत के विभिन्न वर्ग कई नामों के अंतर्गत आते हैं—कुछ तो निरपेक्ष (Neutral) हैं; कुछ प्रशंसा सूचक (Eulogistic) हैं; कुछ निन्दापूर्ण (Dylogistic) हैं; जिनसे कि प्रत्येक जाति (Species) की मूल प्रवृत्ति का बोध होता है। इसी श्रृङ्खला में वे व्याख्यात्मक और परीक्षण (Observation) भी सम्मिलित हैं जिनसे प्रस्तुत आचरण स्रोत की सूचिका (Table of sources of action) स्वयम् प्रभावित होकर उनके विभिन्न लक्ष्यों द्वारा मूल स्तर पर प्रभावित हो कर कला, विज्ञान, नीति अथवा नैतिकता के वैयक्तिक और सार्वजनिक और राजनैतिक (वैधानिकता के साथ-साथ)—सैद्धांतिक और व्यावहारिक अर्थात् विश्लेषणात्मक (Deontology)—(Exegetical) अर्थात् व्याख्यात्मक (Expository) (जिसका अधिकांश सम्बन्ध सैद्धांतिक स्तर से है) अथवा जो विधात्मक (Censory) होती है और विश्लेषणात्मक (Deontology) से सम्बन्धित हैं—उसी श्रृङ्खला में आती है। नैतिक दृष्टि से (इस आचरण स्रोत की सूचिका में) मनोविज्ञान का भी उतना ही सम्बन्ध है जितना कि नीतिशास्त्र का, इतिहास का जीवन सम्बन्धी साहित्य का नैतिक दृष्टिकोण से आवश्यक होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि उद्यत भावनाओं में से कौन-सी चीज मुख्य स्थान रखती है। इनका निराकरण बड़ी भावनाओं द्वारा प्रकाशित होता है अथवा छोटी भावनाओं द्वारा होता है। इन समस्त वस्तुओं पर हमें उपयोगितावाद के सिद्धांत के अनुसार विचार करना होगा और तब ऐसी स्थिति में सदाशयता (goodwill) का ही प्रमुख स्थान होगा और वह उस उदारता के सिद्धांत के अनुसार अभिव्यक्ति पा सकेगा जो अठारहवीं शताब्दी के ब्रिटिश नीतिशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किया गया था और जिसका प्रभाव उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ काल तक रहा। उदारता की भाव स्थिति का सम्बंध परिणामों की संघर्षशील स्थिति से स्थापित करना कठिन है क्योंकि उदारता सदैव बड़े या छोटे

मानव समूहों के प्रति बढ़ती जा सकती है और उसे हितों के महत्व-पूर्ण संघर्षों का सीधा सामना करना पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उदारता को प्रभावपूर्ण रूप से व्यवहृत करने के लिए विस्तृत क्षेत्र और जागरूक मनःस्थिति की आवश्यकता है। संकीर्ण उदारता द्वारा गलतियों की अधिकता होने की सम्भावनाएँ हैं। तत्सम्बंधी समस्याएँ जब कार्य रूप में अभिव्यक्ति पाती है तो उनकी प्रक्रिया बहुत सरल होती है और जिन तत्वों द्वारा वैयक्तिक उदारता का विकास होता है वे कभी भी जन उदार (Public Benevolence) का विरोध नहीं करती।

सदाशयता के बाद यश मोह (Love of Reputation) का मुख्य स्थान है। यहाँ भी अधिकांश रूप में मानव भाव-स्थितियाँ जनता की उपयोगिता से सम्बद्ध होती हैं और जब इस सम्बद्धता में किसी प्रकार की विच्छृङ्खलता आती है तो उसका मुख्य कारण यह होता है कि लोग अपनी रुचियों और अरुचियों, इच्छाओं और अनिच्छाओं द्वारा प्रशासित होते हैं और वे उपयोगिता के महत्व को भूल जाते हैं। किन्तु ऐसी स्थिति सन्यासवाद (Asceticism) अथवा सहानुभूति या वितृष्णा से प्रभावित होती है।

इन तत्वों के अतिरिक्त दो और तत्व हैं जो मनुष्य की उद्यत शक्ति को प्रभावित करती हैं और वे शक्तियाँ शुभचिंतक भाव अथवा वैयक्तिक स्नेह (Desire of amity or personal affection) और धार्मिक आग्रह (Dictates of Religion) हैं। इनमें से प्रत्येक या तो उपयोगितावादी सिद्धांत से सम्बद्ध होकर प्रस्तुत होती हैं या उनसे निराश होकर व्यक्त होती है किन्तु ये भावनाएँ क्रम में इस प्रकार प्रस्तुत होती हैं कि शुभ चिन्तन की भावना पहले व्यक्त होती है और धार्मिक भावना बाद में अभिव्यक्ति पाती है। बेन्थम के विचार के अनुसार धर्म सबसे अन्त में आता है क्योंकि धर्म भावना के विभिन्न रूप विभिन्न प्रकारों में प्रचलित होते हैं। इसलिए उसे अभिव्यक्ति की व्यापक भाव भूमि नहीं मिल पाती।

उद्यत शक्ति की ये क्रम शृङ्खला बेन्थम के दार्शनिक विचारों का

महत्वपूर्ण अंश है। उदारता (Benevolence) को प्राथमिकता देकर और सारी विचार पद्धति को अधिक से अधिक व्यक्तियों को अधिक से अधिक आनंद प्राप्त के सिद्धांत के अनुसार अनुमोदित करके उसने व्यक्ति की इकाई की अवहेलना नहीं की है और न उसने तुच्छता का ही प्रदर्शन किया है जो कि प्रायः उपयोगितावाद के विरुद्ध आरोप रूप में लगाकर उसे मुख्यतः स्वार्थवादी पद्धति की संज्ञा देकर तिरस्कृत किया जाता है। व्यापक भोगवाद (Universalistic Hedonism) कोई और मतवाद भले ही हो वह स्वार्थवाद नहीं कहा जा सकता। यह बात सत्य है कि व्यक्ति की आनंद भावना उसके भूल में होती है किंतु यह भावना उसे कुंठित नहीं कर सकती। आत्म-प्रेम (Self-love) और स्वार्थरत मनोवृत्ति दोनों एक वस्तु नहीं हैं।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य की उद्यत शक्ति (Motives) के सम्बंध में मात्र अच्छा या बुरा कह देने से काम नहीं चल सकता। इस दिशा में फिर किस प्रकार विचार किया जाय और उसके लिए कौन-से मानदण्ड प्रस्तुत किये जायँ यह प्रश्न भी महत्व-पूर्ण है। इस प्रश्न का उत्तर बेन्थम के अनुसार मनुष्य की प्रकृति के अध्ययन में ही मिल सकता है "किंतु कथा-कथित मानव प्रकृति केवल एक कल्पित तथ्य है जो केवल विचारों की सहूलियत के लिए प्रयुक्त होता है और उसके माध्यम से मनुष्य की मानसिक स्थिति के स्थायी तत्वों को प्रदर्शित करने की चेष्टा की जाती है और यह बताने की चेष्टा की जाती है कि वह कहाँ-कहाँ, किन-किन उद्यत शक्तियों (Motives) द्वारा किन-किन कार्य व्यापारों में भाग लेता रहा है। उन्हीं कार्य व्यापारों के आधार पर उसकी प्रवृत्तियों का भी अनुमान लगाया जाता है।" फिर प्रश्न यह उठता है कि मानव प्रकृति की अच्छाई-बुराई किस बात पर आधारित होती है। जिस प्रकार हम अन्य स्थितियों में किसी भी कार्य के प्रभाव से उसके सामुदायिक आनंद भाव के विकास एवं पतनशील प्रवृतियों के आधार पर उसके अच्छे या बुरे होने का निर्णय

करते हैं उसी प्रकार मानव प्रकृति को वैयक्तिक भावों के आधार पर अच्छा या बुरा कह सकते हैं।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि मनुष्य की प्रकृति उसकी प्रवृति से सम्बन्धित होती है और इन दोनों वस्तुओं की अनुभूति के स्तर पर बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

(अ) पहला तो यह कि साधारणतया किसी भी कार्य के परिणाम उसकी प्रवृतियों (motives) को निर्धारित करते हैं।

(ब) दूसरी यह कि जब कोई मनुष्य किसी समय खल व्यवहार को अपनाता है तो वह प्रायः दूसरी परिस्थितियों में भी उसी प्रवृति से संचालित होता है।

अब इसी से सम्बन्धित दण्ड (Punishment) का भी प्रश्न आता है। जहाँ तक राजनीति और न्याय शास्त्र का सम्बन्ध है उस पर हम अलग से विचार करेंगे किंतु जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है उसके संदर्भ में यहाँ कुछ कह देना नितान्त आवश्यक है। इस विषय में सर्व प्रथम बात यह है कि दण्ड को प्रतिशोध की भावना से नहीं आचरित करना चाहिए। उसका उद्देश्य भुक्तभोगी अथवा अपमानित व्यक्ति के आनन्द एवं संतोष के लिए नहीं होना चाहिए, यद्यपि उसमें निहित लक्ष्य कुछ अंशों में होना स्वाभाविक कहा जा सकता है। विशुद्ध उपयोगितावादी के रूप में बेन्थम प्रतिशोध द्वारा प्राप्त आनन्द को महत्ता एवं पर पीड़ा[१](malevolent) द्वारा प्राप्त आनन्द की सत्ता भी स्वीकार करता है। किंतु उसे मनुष्य की कुसंस्कृत प्रकृति का अंग मानता है। और उसे व्यक्तियों के प्रतिशोधात्मक आनन्द द्वारा आनन्द के स्तर को मूल्यांकित करने के लिए प्रयोग में लाता है। प्रतिशोधात्मक तुष्टि के सम्बन्ध में वह बड़े स्पष्ट रूप में कहता है कि "इस प्रकार का आनन्द मात्रलाभ दृष्टि का द्योतक है और हमें सैमसन की कथा की याद दिलाता है। यह उस मिठाई के समान है जो शक्तिवान होने की स्पर्धा से विकसित होती है। यही नहीं यह उस शहद के समान है जो शेर की लाश से निचुड़ कर निकलता है। यह आनन्द बिना किसी लागत

के प्रज्वलित होता है और यह किसी भी आनन्द प्रवृति के समान अपने अंदर विकसित की जा सकती है क्योंकि प्रविशोधात्मक आनन्द तो यदि सूक्ष्म स्तर पर देखा जाय तो वह किसी भी अन्य प्रकार के आनंद के समान निरपेक्ष शुद्धता के समान होता है। किंतु जब तक यह आनन्द भाव कानून की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करता और उसकी सीमाओं में रहता है तब तक यह बड़ा ही सरल और भोला होता है। किंतु जहाँ यह कानून की सीमाओं का उल्लंघन करता है वही यह अपराध बन जाता है।" दण्ड सम्बंधी दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि उसका लक्ष्य व्यक्ति में सुधार करना और उसे उदात्त बनाना है। यही प्रवृत्ति है जो दण्ड को वैयक्तिक प्रतिशोध की सीमा से निकाल कर विवेक और प्रजातीय पुष्टता प्रदान करती है और मनुष्य के व्यापक कल्याणात्मक भाव को स्थिरता प्रदान करती है। दण्ड का अंतिम लक्ष्य समुदाय के प्रभाव से अनुप्राणित होना चाहिये। दूसरे शब्दों मे समुदाय पर इसका प्रभाव वर्जनाओं और रोको के रूप मे पड़ना चाहिये।

उपर्युक्त व्याख्या बेन्थम के नैतिक अवस्थान को उसके मारल्स लेजिस्लेशन (Morals cgislation) नामक पुस्तक के आधार पर सारांश रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। इससे यह बात स्पष्टतया देखी जा सकती है कि वह किस प्रकार सर्वानंदवाद (Greatest Happiness) के सिद्धांत को किस प्रकार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों और कार्य व्यापारों एवं नैतिक आचरणों से सम्बद्ध करके देखना चाहता है। वह आनन्द को सुख अर्थात् क्रीड़ा भी अभाव स्थिति मानता है और वह बहुधा यह कहा करता था कि यद्यपि यह धारणा या सिद्धांत उसने प्रीस्टले से ग्रहण किया है फिर भी उसने इसका सर्वथा नया प्रयोग किया है और उसने उसके आनन्द सम्बंधी मूल तत्वों को ग्रहण करके उसके विभिन्न पहलुओं पर कार्य करने की चेष्टा की है। इस सम्बंध में यह भी आवश्यक था कि आनन्द के मूल स्रोतों पर विचार किया जाय ताकि उसके नैतिक पक्षों का मूल्यांकन भी हो सके। बेन्थम के चिंतन शैली में आनंद के मूल्यों को निर्धारित करने की सर्वथा दूसरी

पद्धति है जो आनन्द की मात्रा और उसकी गुणात्मक सत्ता के आधार पर आँका जाती है।

इतने बृहद विषयवस्तु को सारांश में प्रस्तुत करना नीरस और जीवनहीन सा लगेगा। किंतु बेन्थम की इस विद्वतापूर्ण व्याख्या में अपेक्षाकृत पर्याप्त रस और जीवन है और उसमें यह सत्ता है कि वह पाठकों के ध्यान को बड़े जागरूक प्रमाणों द्वारा स्थापित किये रहे और रोचक उद्धरणों द्वारा स्थापित किये रहे। इसी प्रक्रिया से वह ऐसा बोध उत्पन्न करता है जैसे इस विषय से सम्बन्धित जितना भी वाद-विवाद हुआ है वह मात्र शासकीय नहीं है वरन् वह प्रत्येक सजीव व्यक्ति से सम्बंधित उसकी कठिनाइयों और कमियों को सम्पूर्ण रूप से समझने और औपचारिक दृष्टि विकसित करने के हेतु जीवन और आचरण की व्याख्या है।

२—बेन्थम के इन विचारों के साथ ही उसके कटु आलोचकों का भी जन्म हो चुका था और जब उसने इन सिद्धांतों की व्याख्या प्रस्तुत की तब से आज तक उन आलोचकों की परम्परा चली आ रही है। प्रस्तुत आलोचनाओं में से आनन्दवाद के सिद्धांत-सम्बन्धी दो-एक आलोचनाओं पर विचार कर लेना उचित होगा।

बेन्थम के विचारों के सम्बन्ध में यह कहा गया है, जैसा कि वह स्वयं भी कहता है कि "मनुष्य की उद्यत शक्ति मनुष्य के कार्य-व्यापार सम्बन्धी उद्यत शक्ति आनन्द और पीड़ा प्राप्त करना है।" अस्तु, इनकी मात्राओं को मापने की विधि केवल उनके परिमाण द्वारा ही आँका जा सकता है। ठीक उसी प्रकार पीड़ा और आनन्द की अनुभूति शारीरिक बन्धनों द्वारा प्रस्तुत सीमाओं के आधार पर अंकित किया जा सकता है। इन सब का निष्कर्ष यह निकलता है कि हम पीड़ा और आनन्द की अनुभूति को अनुरक्ति और संयम द्वारा प्रज्वलित परिणामों के माध्यम से जानते हैं और ऐसी स्थिति में परिणाम दर्शिता (prudence) ही उसका प्रमुख गुण है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि बेन्थम का दार्शनिक सिद्धांत आत्म-परखता से ऊपर नहीं उठता। इस आत्म-

परखता को भी उसके आलोचक, स्वार्थरत प्रवृत्ति के नाम से सम्बोधित करते हैं और यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि मनुष्य की नैतिक प्रेरणाओं और सफलताओं के उच्चतम् परिवेशों को उसका स्वार्थवादी सिद्धांत कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता।

किन्तु इस प्रकार की आलोचना कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं दे पाती क्योंकि परिणामदर्शिता स्वार्थ से बिल्कुल समानता नहीं रखती और न परिणामदर्शिता को एक दुर्गुण के रूप में सिद्ध किया जा सकता है। इसके विपरीत यह स्वीकार कर लेने के बाद कि मनुष्य का सुख और आनन्द उसके शारीरिक बन्धनों द्वारा प्रशासित होती है और वह उसके आनन्द को सीमाएँ प्रदान करती है यह भी मानना पड़ेगा कि मनुष्य की प्राथमिक प्रवृत्ति इन सीमाओं का अतिक्रमण करके आगे बढ़ने में है और तब मनुष्य की परिणामदर्शिता एक महत्वपूर्ण गुण के रूप में प्रस्तुत होती है। इस गुण का विधायकों के लिए बहुत बड़ा महत्व है। बेन्थम अपने विचारों में जहाँ असफल हुआ है, वह स्थल परिणामदर्शिता के मूल विवेचन में नहीं है वरन् वह इसमें है कि उसने पर्याप्त मात्रा में इस बात पर बल नहीं दिया है कि मनुष्य की वैयक्तिक परिणामदर्शी शक्ति सामाजिक परिस्थितियों द्वारा नियंत्रित होती है जिसके कारण वह दूसरे की कल्याण भावना की अवहेलना नहीं कर सकता। वह कथाकथित, विशुद्ध निरपेक्षता का कभी भी प्रशंसक नहीं रहा है। किन्तु अपने अंतिम निष्कर्षों में उसने वैयक्तिक आनन्द को निश्चय ही स्थापित करने की चेष्टा की है। उसके मतानुसार यह सम्भव है कि हम निरपेक्षता के साथ किसी कार्य को करते रहें। क्योंकि इस निरपेक्षता में भी हमें आनन्द मिल सकता है और निरपेक्ष कार्य भी हमें उस पीड़ा से मुक्त करके किये गये कार्य द्वारा वैयक्तिक आनन्द का बोध करा सकता है। निश्चय ही उसकी इस प्रकार की धारणा निरपेक्षता की मर्यादा को निम्न स्तर प्रदान करता है और हमारी नैतिक अनुभूति के प्रमुख कारकों की अवहेलना भी करता है। इसके बाद उपयोगितावादी विचारक विशेषतया बेन ने बेन्थम द्वारा प्रतिपादित त्रुटियों को दूर करने की चेष्टा की है।

बेन्थम के विचारों के प्रति दूसरा आरोप यह लगाया जाता है कि मात्र पीड़ा और आनन्द की भावना हमें नैतिकता नहीं प्रदान करती, वह केवल एक चेतनानुभूतिमान बन कर हमारे सामने प्रस्तुत हो सकती है। इस विरोध के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि आनन्द अपनी विशुद्ध आनन्द की स्थिति में न तो नैतिक होता है और न अनैतिक। फिर भी आनन्दवादी प्रवृत्ति पर यदि नियंत्रण और सीमाएँ नहीं निर्धारित की जायँगी और उनको मनमाने ढंग से विकसित किया जायगा तो वह उचित नहीं होगा। इसीलिए ईस बात की आवश्यकता है कि उनको विवेक के माध्यम से परिशोधित किया जाय क्योंकि जब कभी भी मनुष्य की प्राथमिक वासनाओं और इच्छाओं का विवेक द्वारा नियंत्रण होता है तो इसमें वर्तमान तुष्टियों की अपेक्षा भविष्य की दृष्टि और नैतिकता के गुण स्वतः विकसित होने लगते हैं। दूसरे शब्दों में परिणामों की दृष्टि से एवं व्यक्ति और समस्त की दृष्टि से जब विशुद्ध आनन्द और संयमित आनन्द में से चुनाव करना होगा तो यह चुनाव करना ही नैतिकता के प्रति आग्रहशील होना होगा। नैतिकता मूलतः विवेकपूर्ण संयम ही है और इसका बोध उस समय तक नहीं होगा जब तक कि आनन्द अतिवादी भोग विलासिता के दुष्परिणामों को पराजित करके पृथक् नहीं स्थापित करेगा। प्रस्तुत व्याख्या का यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति (person) मानव जाति का प्रतिनिधि विशेष है और उसकी आनन्द भावना मानव जाति की आनन्द भावना द्वारा नियंत्रित होना आवश्यक है।

प्रस्तुत आधार पर बेन्थम के आलोचकों ने उपर्युक्त भावनाएँ मात्र इसलिए बना दी थी क्योंकि वह बेन्थम की विचार धारा वाले व्यक्तियों को अत्यन्त स्वार्थी और केवल मतलब साधने वाले व्यक्तियों के रूप में देखते थे और यह मानते थे कि ये बिना किसी भी कार्य के परिणामों को मूल्यांकित किये अथवा बिना उन पर सचेष्ट चिंतन किये कार्यरत होना उचित नहीं समझते किन्तु जहाँ तक बेन्थम के विचारों का सम्बन्ध है, उसमें इस प्रकार के भाववादी चिंतन की आवश्यकता नहीं है। बेन्थम ने

बार-बार इस बात पर आग्रह किया है कि किसी भी सभ्य समुदाय में हमारे आचरण उस समुदाय में प्रचलित सामाजिक परम्पराओं द्वारा नियंत्रित और संशोधित होते रहते हैं। किंतु सामाजिक नियमों में प्रजनन् शक्ति होती है और शताब्दियों का अनुभव हमें यह बताता है कि प्रचलित परम्पराओं के परिणामों से ही नये कानून बनते हैं और इस प्रकार व्यक्ति के आग्रहपूर्ण मूल्यांकन की प्रवृत्ति एक अपवाद है। नियम नहीं, बहुत कम हम किसी भी कार्य के परिणामों पर श्रमसाध्य रूप में विचार कर पाते हैं। साधारणतया हमारे कार्य स्वंगत् होते हैं और उनमें आदत, प्रथा और सर्वमान्य बुद्धि द्वारा प्रजनित शक्तियाँ ही प्रेरक होती हैं। अस्तु, नैतिक व्यक्ति अपने नैतिक आचरण की अभिव्यक्ति को उन्हीं पर आधारित करता है। हाँ, कभी-कभी इस बात की आवश्यकता होती है कि अपने नैतिक कार्यों को प्रमाणित करें और जब कभी भी ऐसी स्थिति आती है तो निश्चय ही कर्मों के परिणामों पर विचार करने की बात उठती है और इस बात की आवश्यकता अनुभव होती है कि उसको मूल्यांकित करते समय इस बात पर ध्यान रखा जाय कि वह किस सीमा तक आनन्ददायक है और कहाँ वह आनन्द का तिरस्कार करके मात्र पीड़ा प्रदान करने की भावना से उद्भूत हुआ। परिणामों पर विचार करना क्षण प्रति क्षण व्यक्ति की जागरूक दृष्टि का परिचायक बिना उसकी अपनी स्वार्थ सिद्धता के भी सिद्ध हो सकता है। अस्तु, ऐसी अवस्था में जब कि हम एक अत्यंत विकसित सामाजिक व्यवस्था में रह रहे हैं, जहाँ समस्त नैतिक आचरणों की एक श्रृङ्खला युगों से बनती चली आ रही है और उसे उत्तराधिकारी के रूप में हम ग्रहण करते चले आ रहे हैं तो ऐसी स्थिति में व्यक्ति की कथाकथित सचेष्ट आग्रहशीलता का उतना महत्व नहीं रह जाता।

बेंथम के विचारों के विरुद्ध एक और आलोचना भी प्रस्तुत की जाती है और यह कहा जाता है कि बेंथम किसी भी आचरण को आनंद के परिणाम और उसके द्वारा प्रस्तुत आँकड़ों पर विशेष बल देता है। यह

भी कहा जाता है कि बेंथम के ये मानदण्ड अव्यावहारिक है क्योंकि आनन्द के सम्वेद रूप को मापना एक असम्भव धारणा है।

उपयुक्त आलोचना में कुछ बल हो सकता था। यदि नैतिक शास्त्र एक सूक्ष्म विज्ञान होता और उसका महत्व केवल काल्पनिक और प्रदर्शनात्मक होता क्योंकि इस प्रकार का विज्ञान जिसमें प्रत्येक बिन्दु को मापने की विधि होती है उसमें मनोविज्ञान और अनुभूतियों के महत्व को स्थान नहीं मिल पाता। किंतु नैतिक शास्त्र (अथवा राजनीति) एक व्यावहारिक विज्ञान है। इसलिए उपयुक्त तत्व उस रूप में लागू नहीं किया जा सकता। जैसा कि गणित की निश्चयात्मकता के लिए आवश्यक है। ऐसा इसलिये है क्यांकि अनुभूतियाँ नैतिकता का पथ प्रदर्शन करती हैं और वे उद्यत शक्तियाँ जो मनुष्य को आचरण की प्रेरणा देती हैं उनका अच्छी तरह से अन्वेषण हो सकता है और परिणामों को देखा जा सकता है। आवश्यकतानुसार हम मनुष्य के आचरण और उद्यत शक्तियों को पूर्ण रूप से नहीं जान सकते। स्वयं व्यक्ति भी अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व और उद्यत शक्तियों को नहीं जान सकता किंतु फिर भी जिस मात्रा में हमारे पास तत् सम्बन्धी ज्ञान होता है, उसी के अनुरूप हम उसका परीक्षण और विवेचन करते हैं। प्रत्येक वस्तु स्थिति की एक अपनी मूल प्रकृति होती है जिससे हमारा योग उसके आधार पर परिणामों को देखने एवम् प्रवृत्तियों के विश्लेषण में समान रूप से होता है। हम केवल अनुमान से काम लें अथवा प्राप्त ज्ञान के सम्मिलित योग के आधार पर तथ्यों को निर्धारित करें। इसलिए आनन्द के सामूहिक अथवा सम्पूर्ण परिणामों पर विचार करना अनुचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि बिना किसी तात्कालिक संदर्भ के किसी भी बात पर सोचना या विचार करना या कार्य करना और उसमें से अपने व्यक्तित्व को अलग रखने की बात करना उचित नहीं लगता। इस विषय की वस्तुस्थिति को समझने में बड़ी भ्रांतियाँ उत्पन्न हुई हैं। जहाँ तक बौद्धिक चिंतन और निरपेक्ष आचरण का प्रश्न है, वे सदैव हमारी अनुभूतियों के आधार पर निर्धारित

आनन्द की धारणा से सम्बद्ध और सम्प्रत होती है और उसका परिष्करण वस्तु स्थिति के तथ्यों द्वारा होता है। यद्यपि आनन्द किसी भी दी हुई स्थिति में हमें हमारे आचरण के लक्ष्य का बोध नहीं करा सकता और हमारी तात्कालिक जिज्ञासाओं को बौद्धिक तुष्टि नहीं दे सकता फिर भी उसकी तात्कालिकता ही उसकी परीक्षा स्थिति है जो आचरण के महत्व को निर्धारित और नियंत्रित करती है। यह प्रक्रिया हमें विवेक देती है और यह बताती है कि हम क्यों विचारशील हों अथवा हमें अपने व्यवहार में विचारशीलता पर क्यों आग्रहशील होना चाहिये। आनन्द का सामूहिक रूप जैसा कि ऊपर वर्णित किया गया है, हो सकता है पूरी स्थिति को उचित रूप में न प्रस्तुत कर सका हो और उस गणितात्मक निश्चयात्मकता का बृहद् विश्लेषण न कर सका हो। किंतु व्यावहारिक स्तर पर यही वह साधन है जिससे हम आचरण और आनन्द का मूल्यांकन कर सकते हैं। वस्तुतः इसी मानदण्ड को साधारणतया प्रयोग में लाते हैं। वह अन्य दिशाओं में चाहे जिस प्रकार सोचता या समझता हो, किंतु यह बात तो निश्चय ही अत्यन्त सत्य है कि उसकी इच्छा अधिक से अधिक आनन्द उपलब्धि की होती है और आनंद के नियोजित रूप को वह अधिक से अधिक समय तक भोगने की इच्छा रखता है। प्रत्येक व्यक्ति के पास आनन्द की सम्पूर्णता का एक प्रारूप होता है जो उसके इच्छाओं को बाँधता है और जिसको स्थायित्व प्रदान करके अथवा जिसकी पुनरोक्ति करके वह उसे उपलब्ध करना चाहता है। इस इच्छा में दो भाव स्थितियाँ निहित होती हैं। पहली तो पूर्णता (Fullness) की है और दूसरी चिरंतन अथवा पुनरोक्त (Continua nce or Repetition) जो उसके प्रत्येक आचरण को निर्धारित एवं कार्यशील बनाती है।

अध्याय ४

बेन्थम का सामाजिक एवम् राजनैतिक विचारक के रूप में महत्व

[बेन्थम का स्थान; शासन सिद्धांत; विधान सम्बंधी विचार; राजनैतिक अर्थशास्त्र तथा शिक्षा के सम्बंध में दृष्टिकोण]

१—बेन्थम का स्थान :—जिस युग में बेन्थम ने राजनैतिक समस्याओं पर लिखना प्रारम्भ किया वह युग मानव के प्राकृतिक अधिकारों (The natural rights) के प्रति बड़ा ही आग्रहशील युग था। फ्रांस में विद्रोहियों ने इन्हीं प्राकृतिक अधिकारों को अपने आन्दोलन का आधार बनाया था, और अमरीकनों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा (Declaration of Independence) में इन्हीं अधिकारों पर बल दिया था। इंगलैण्ड में टाम-पेन (Tom Paine) और गाडविन (Godwin) जैसे विचारक इस मतवाद के प्रबल समर्थकों में से थे। बेंथम इन लोगों के विचारों का कट्टर विरोधी था। वह प्राकृतिक अधिकारों (Natural rights)को महज मूर्खता का द्योतक अर्थात् वह प्राकृतिक और अमर्यादित अधिकारों को केवल वाग्जाल ही नहीं वरन् हवा में उड़ान लेने जैसी मूर्खता कहता है। बेंथम के तर्कों का समर्थन सर लेजली स्टीफेन (Sir Leslie Stephen) द्वारा इन शब्दों में किया गया है :—"मानव अधिकार (The rights of man) का सिद्धांत एक ऐसी बुनियादी तर्कसंगति प्रस्तुत करता है जिसकी व्याख्या तथ्यों की सच्चाई पर आधारित है। यह सिद्धांत कि समाज के सभी प्राणी समान थे और उन्हें समान होना

चाहिये इस बात की पुष्टि करता है कि मानव समाज पर किसी प्रकार का भेद-भाव आरोपित नहीं किया जाना चाहिये। हर प्रकार की असमानता का एक तर्कसंगत पद्धति के अनुसार स्पष्टीकरण आवश्यक है। किंतु जब अधिकार सम्बन्धी तर्क यह बात सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त होता है कि चाहे किसी भी दशा में मनुष्य समान होता ही है हम निश्चय ही एक झूठी समस्या प्रस्तुत कर देते हैं। अस्लियत यह है कि इस प्रकार के शास्त्रीय विचारवादी तुरन्त ही सम्पूर्ण मानव समाज के जातियोनि और अपरिपक्व जैसे नाम वाले श्रेणियों में विभाजित करने लगते हैं।" बेंथम के मतानुसार जो भी अधिकार मनुष्य भोगता है वे प्राकृतिक नहीं होते वरन् वे कानून द्वारा मनुष्य को दिये गये अधिकार होते हैं। अस्तु जैसे किसी भी कानून की अच्छाई और महत्व से उसकी उपयोगित्ता (Utility) के आधार पर ही आँका जा सकता है, और जिस हद तक वह अधिक से अधिक व्यक्तियों को अधिक से अधिक आनन्द प्रेषित करने के नाते ही वह कानून प्राकृतिक अधिकार (Natural rights) के अधिकार को खण्डित करके उपयोगितावाद (Utility) के सिद्धांत को दृढ़ बनाता है।

उपर्युक्त आधार पर ही बेंथम ने ब्लैकस्टोन (Blackstone) के उस राजनैतिक दायित्व के सिद्धांत का खण्डन किया है जो प्राचीन-लेखकों द्वारा आदिम सामाजिक समझौते (Primitive Social Contract) के आधार पर प्रस्तुत किया गया था। उसके मतानुसार इस प्रकार के किसी भी समझौते के अस्तित्व का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। और यदि यह मान लिया जाय इस प्रकार का कोई समझौता कभी रहा होगा, तो भी समस्याओं का निराकरण नहीं होता। क्योंकि यदि यह मान भी लिया जाय तो तत्काल ही यह प्रश्न उठते हैं कि इस प्रकार के समझौते की क्या आवश्यकता थी अथवा यह कि इस प्रकार के समझौतों का क्या लक्ष्य था और तब यह भी प्रश्न उठता है कि मनुष्य क्यों इस प्रकार के समझौतों का पालन करे? इस प्रकार के

प्रश्नों का एक मात्र उत्तर जिसे बेंथम सर्वोचित मानता है वह है उपयोगिता (Utility) अथवा सर्वकल्याण (General Good)।

२—शासन सिद्धांत (The Theory of Government) :—बेंथम के राजनैतिक दायित्व से सम्बन्धित विचारों से परिचित होने के बाद अब हम उसके शासन सम्बन्धी कल्पनाओं और सुधार हेतु कठोर, व्यावहारिकसुझाओं के लिए प्रस्तुत हैं।

प्रतिनिधि शासन सत्ता (Representative Government) अथवा बहुमत प्राप्त जन प्रतिनिधियों द्वारा संचालित शासन व्यवस्था को वस्तु सत्य मानकर बेंथम ने अँग्रेजी संबिधान और शासन कार्य में उन विभिन्न सुधारवादी आन्दोलनों को जन्म देने की चेष्टा की थी, जो उस शासन व्यवस्था को अधिक उपयोगी बना सकने में सफल हो सकता था। बेंथम तथाकथिता अद्वितीय अँग्रेजी संविधान (The matchless constitution) के पूर्णतया त्रुटिरहित नहीं मानता था। वह तीन विशेष बातों पर आग्रहशील था और उसके आधार पर वह ब्रिटिश शासन व्यवस्था में एक निश्चित सुधार का प्रवर्तक था। जिन तीन सुधारों का वह समर्थक था उनमें से प्रथम सर्वव्यापी पुरुष मतदान (Universal manhood Suffrage) का अधिकार था। इस अधिकार को नियंत्रित करने के लिए बेंथम ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया था कि प्रत्येक वही पौढ़ (Adult) मत देने का अधिकारी है जो पढ़ सकता हो। यह नियंत्रण उसने शिक्षा के प्रसार के व्यापक बनने की दृष्टि से रक्खा क्योंकि अन्य उपयोगितावादियों (Utilitarian) की भाँति बेंथम भी शिक्षा को बहुत महत्वपूर्ण मानता था। ऐसा करने में बेंथम ने स्त्रियों को मताधिकार से वंचित करके उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि स्त्रियों का अधिकार उस समय नहीं सोचा जा सकता था क्योंकि उसकी कोई माँग उस समय तक प्रस्तुत नहीं हो पाई थी। बेंथम के काल में एक बहुत ही नगण्यवर्ग द्वारा स्त्रियों के मताधिकार की बात उठाई जाती थी किन्तु उसके विरोधी संख्या में अधिक शक्तिशाली थे। और यही कारण

था कि वह उस नगण्यवर्ग की बात स्वीकार करने में एक वृहत बहुमत के प्रति अन्याय न हो जाय इसलिए उसने स्त्रियों के मताधिकार के प्रश्न को वहीं समाप्त कर दिया। दूसरी बात जिसके प्रति उसका विशेष आग्रह था वह संसद का वार्षिक अधिवेशन (Annual Parliament) की बात थी। बेंथम पार्लियामेन्ट के संक्षिप्त वार्षिक अधिवेशनों का विरोधी था क्योंकि इन वार्षिक अधिवेशनों के कारण ही चुने गये सदस्यों की अकर्मण्यता, काहिली और स्वार्थ की रक्षा होती थी। यही नहीं यदि यह वार्षिक अधिवेशन समाप्त हो जाते तो मतदाताओं और मताधिकारियों के बीच में अधिक दायित्वपूर्ण व्यवहार का विकास होता और जनता को अपने प्रतिनिधियों की कार्यकुशलता और उपयोगिता को आँकने का अधिक अवसर मिल पाता। तीसरी बात यह कि चुनाव पत्रक (Vote by ballot) द्वारा होना चाहिये। यह वोट चुनाव सम्बन्धी शुद्धता को स्थापित करने के लिए एवम् बेजा दबाओं और रिश्वतों के विरुद्ध सही मत प्रस्तुत होने के लिए आवश्यक समझता था। इस विषय में विभिन्न उपयोगितावादियों के विशेष प्रकार के आग्रह हैं, जैसे जान स्टुअर्ट मिल (J. S. Mill) इस विचार का कट्टर विरोधी था और ठीक इसके विपरीत जार्ज ग्रोटे (George Grote) संसद में इस पत्रक द्वारा मतदान का प्रमुख समर्थक था।

बेंथम के काल से आज के आधुनिक काल तक में काफी समय बीत चुका है। चुनाव पत्रक (Ballot) आज का सर्वस्वीकृत तथ्य है और पुरुष मताधिकार की व्यापकता दिनों दिन व्यावहारिक राजनीति में आचरित होने लगी है। केवल वार्षिक संसद अधिवेशन की बात तिरस्कृत कर दी गई है और अब उसके पुनः स्थापित होने की सम्भावना नहीं है। उसकी आवश्यकता समाप्त हो चुकी है। आज मतदाताओं और संसद के सदस्यों के बीच अत्यधिक सम्पर्क स्थापित करने में किसी भी प्रकार की यातायात सम्बन्धी कठिनाई नहीं है। रेलवे, मोटरकार और स्टीमर तथा तार टेलीफोन और सस्ती डाक-व्यवस्था के माध्यम से मतदाता और संसद-प्रतिनिधि के बीच में कोई भी दूरी नहीं रह गई है। इसके अतिरिक्त

प्रेस की व्यापक दृष्टि संसद के सदस्यों और प्रायः सभी प्रमुख विषयों पर राजनैतिक जनमत के प्रचार और प्रसार के साधन पर्याप्त हो गये हैं। बेंथम प्रेस की स्वतन्त्रता-सम्बंधी इस महत्व को अच्छी तरह समझता था, इसीलिए उसने इसके पक्ष का जोरदार समर्थन भी किया था।

उपर्युक्त समस्त सुझावों का उद्देश्य वास्तविक और प्रभावपूर्ण जन प्रतिनिधित्व की स्थापना करना था। अर्थात् प्रजातन्त्र की समस्त सम्भावित शक्तियों का प्रयोग हो सके, इसकी सम्भावना निश्चित करना था। इस मन्तव्य की पूर्ति के लिए जो दूसरी वस्तु परम आवश्यक थी वह निर्वाचन क्षेत्रों का समविभाजन था (The equilizing of electoral districts) जब तक यहँ असमानता रहती अर्थात जब तक कहीं छोटे निवाचन क्षेत्र और कहीं बड़े निर्वाचन क्षेत्र रहते तो रिश्वत, भ्रष्टाचार भी स्थापित रहते। और छोटे-छोटे क्षेत्रों में तो बड़े क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक भ्रष्टाचार और रिश्वत चुनाव-पत्रक की गोपनीय सत्ता को भी दुष्कृत कर देते।

यही नहीं, प्रस्तुत सुधारों के अतिरिक्त अन्य सुधारों का आविष्कार भी हुआ। बेंथम लार्ड सभा (House of Lords) के वंशानुक्रम के अनुसार प्रतिनिधित्व का घोर विरोधी था। और इसको वह ऐसा अपराध मानता था जिसका संरक्षण किसी भी रूप में कर सकना सम्भव नहीं था, किंतु जहाँ वह इसका विरोधी था वहाँ वह किसी प्रकार की दूसरी सभा (Second Chamber) को मूलतः नष्ट करके एक प्रतिनिधि सभा का मतावलम्बी था। इसीलिए संसद के वार्षिक अधिवेशन की बात को वह अधिक दृढ़ता से कहता भी था क्योंकि दो संसद भवनों का न होना उसके तर्क को बल देता था और इस माध्यम से विधायकों की तीव्र गति से पारित होने की सम्भावना और सदस्यों की कार्य-कुशलता को व्यक्त होने की सम्भावना इसमें अधिक थी।

किंतु वह इससे भी आगे बढ़ गया था और एकछत्र राज्य (Monarchy) की घोर निंदा करने लग गया था। उसका राजाओं के प्रति कोई मोह नहीं था। जार्ज तृतीय के प्रति वह असीम घृणा की

भावना रखता था और उसके विषय में बहुत ही अनादरपूर्ण शब्दों में घृणा के भाव व्यक्त करता था। इसमें सन्देह नहीं कि उसने जार्ज तृतीय के प्रति घोर सार्वजनिक घृणा का भाव उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की थी। विशेषतया अपनी "जर्मी बेंथम टु हिज़ फेलो सिटीजन्स आफ फ्रांस आन हाउसेज आव पियर्स एण्ड सेनेट्स" (Jeremy Bentham to his fellow citizens of France, on House of Peers and Senates) नामक पुस्तक द्वारा उसने फ्रांसीसियों में उसके प्रति बड़ा घृणा भाव प्रचारित किया था। उसका विश्वास गणतंत्र (Republic) में था। उसी दिशा में वह सोचता भी था और आर्थिक दृढ़ता की बुनियाद एवं कुशलता के साथ-साथ जनसत्ता की सार्वभौमिकता की बात भी सोचता था। एक बात में वह बहुत ही स्पष्ट मत रखता था, और वह बात यह थी कि किसी भी सम्राट के स्वार्थ, प्रजा के स्वार्थ से किसी भी प्रकार की समानता नहीं रखते। इसीलिए एकछत्र राज्य में सार्वजनिक विधायकों के सुचारु रूप से पारित होने में अधिक रुकावटें और अपव्यय होते हैं। यही कारण था कि उसकी सहानुभूति फ्रांस और फ्रांसीसी क्रांति; संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और उसकी स्वतंत्रता के प्रति अत्यधिक रूप में थी। वह अपने इन्हीं विचारों के आधार पर जनता के हितों की रक्षा उन समस्त प्रचलित आत्म-स्वार्थ रीतियों के विरुद्ध करता था जो न्याय के सिद्धांत और साधारण बुद्धि की हत्या करके स्थापित होना चाहते थे। उसका वैधानिक संविता (Constitutional Code) का सिद्धांत गणतन्त्रात्मक व्यवस्था पर ही आधारित था। इस सम्बन्ध में १८२४ में सेनानायक मार्ड विनाव (Admiral Merd Vinoff) को लिखते हुए उसने अपने उद्देश्य की घोषणा करते हुए लिखा था कि उसका उद्देश्य वर्तमान पतित जगत का उद्धार गणतन्त्रात्मक सत्ता द्वारा स्थापित करना है।

उसकी यह अतिवादी क्रांतिकारी (Radical) विचारधारा स्वयम् में बड़ी आश्चर्यजनक लगती थी क्योंकि वह एक ऐसे व्यक्ति के

विचार से प्रस्फुटित होती थी जो मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों का कट्टर विरोधी था। किन्तु ऐसा करने में वह एक तार्किक संगति का अनुभव करता था और अपने सर्वाधिक आनंदवाद के साथ इस विचार को आवश्यक परिणति के रूप में स्वीकार करता था। उसका तर्क था कि एक सम्राट के हितों को सर्वश्रेष्ठ मान लेने एवम् एक छत्रात्मक राजसत्ता स्वीकार कर लेने में अथवा नियंत्रित एक क्षत्रात्मक सत्ता और विशेष अधिकारी वर्ग को स्वीकार कर लेने में वही सार्वभौमिक सत्ता की बात उठती है। केवल प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में प्रशासक और प्रशासित के हित समान होते हैं और केवल उसी स्थिति में अधिक से अधिक संख्या की हित-सम्बन्धी बात सर्वश्रेष्ठ रूप में स्थापित हो सकती है।

३—विधायक सम्बन्धी विचार (Legislation)—तीसरे अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि बेन्थम के विधायक सम्बन्धी विचारों एवम् नैतिक विचारों में बड़ा गहरा सम्बन्ध है। उसने इन दोनों, अधिकार और कर्तव्य, को अपना गढ़ा हुआ एक शब्द दिया (Deontology)। वे दोनों "अधिकार और कर्तव्य" मानव आचरण और आचरण द्वारा स्थापित लक्ष्यों एवम् उद्देश्यों के परिचालित करने में विशेष योग देते हैं। यही नहीं, वे दोनों मानव की आनन्दात्मक अनुभूति को निर्धारित एवम् वहन भी करते हैं। फिर भी जहाँ तक नैतिकता का सम्बन्ध है, उसका उद्देश्य व्यक्ति का पृथ-प्रदर्शन करना अथवा यह कि वह अपने जीवन और आचरण को किस आधार में ढाले इस पर निर्भर करता है। जहाँ तक विधायक का प्रश्न है, इसका सम्बन्ध उचित अनुशासन और उसके प्रशासन द्वारा जन-कल्याण के हित की रक्षा करना है। यह दोनों वस्तुएँ यद्यपि एक दूसरे से मिली-जुली-सी लगती हैं फिर भी दोनों समान नहीं हैं। और निश्चय ही इनमें से एक की सीमा दूसरे की अपेक्षा अधिक सीमित है। देश के लिए ऐसे कानून बनाना, जो क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये का सिद्धांत समस्त देश में स्थापित करे और उनका प्रयोग सत्तात्मक रूप मे पीड़ा या दण्ड के आधार पर निर्धारित करे

सर्वथा भिन्न वस्तुएँ हैं क्योंकि इस सिद्धांत में कहीं न कहीं दबाव से आचरण करने की बात लगी हुई है। इसके विपरीत मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति के आधार पर किस तरह का आचरण करे, किस आधार पर उन नैतिक सिद्धांतों की स्थापना करे जो उसकी विवेकगत सम्पन्नता की वृद्धि कर सके अथवा अपने आचार-विचार का नियंत्रण कर सके, सर्वथा दूसरी बात है। यह अन्तर अवश्यम्भावी (must) और सम्भाव्य के अर्थभेद पर आधारित है जिनमें से प्रथम तो बिना किसी विशेष आग्रह के मात्र आज्ञा मात्र है। इसके विपरीत दूसरे में अधिकार और कर्तव्य के बीच उस मानव प्रकृति की अनुभूत्यात्मक उपलब्धि की स्वीकृत है जो कर्तव्य को प्रेम द्वारा आचरित करने की प्रेरणा देती है और अधिकार की सशक्तता को स्वतन्त्रता के साथ स्वगत रूप में सेवा करने की प्रेरणा देती है। जैसा कि हिल बर्टन (Hill Burton) ने बेंथम के विचारों का सार देते हुए कहा है कि "प्रत्येक मनुष्य का कोई भी कर्तव्य प्रत्येक मनुष्य का दायित्व हो सकता है किन्तु प्रत्येक विधान सभा के सदस्य का यह अधिकार नहीं हो सकता कि वह उस कर्तव्य को अपनी प्रजा पर साधिकार लागू करा सके क्योंकि प्रयुक्त (enforcement) करने की प्रक्रिया में समूचे समुदाय के प्रति दुराग्रह (mischief) के तत्व भी हो सकते हैं जो सदाशयता की उपेक्षा करके केवल अधिकारनिष्ठा की स्थापना कर सकता है। दूसरे शब्दों में समाज की सर्वव्यापक आनंद (Greatest Happiness of Society) अनुभूति इसमें व्यक्त होती है कि मनुष्य स्वतन्त्र रूप (voluntarily) से किसी भी नीति का पालन करे। ऐसा करने से उपर्युक्त प्रवृत्ति से एक भय यह है कि वह सामुदायिक आनन्द को हानि भी पहुँचा सकता है। प्रमाण के लिए हम उधार के लेन-देन के पक्ष की बात (Defence of Usury) ले सकते हैं जिसमें कर्ज के लेन-देन और बहुत ऊँचे सूद के दर की निंदा करते हुए जिस प्रकार मनुष्य की फजूलखर्चीं और अपव्यय की निंदा भी की गई है वह सर्वथा उचित नहीं है क्योंकि इस प्रश्न का एक दूसरा पहलू भी है। वह दूसरा पहलू कभी-कभी यह भी

सिद्ध करता है कि इस प्रकार के कानून प्रायः मनुष्य के मुक्त आनन्द (Happiness) की भावना को पददलित एवम् तिरस्कृत करने की दृष्टि से भी बनाये जाते हैं।

दूसरे शब्दों में समाज की सार्वव्यापक अनुमति को इसमें अधिक प्रोत्साहन मिल सकना है कि मनुष्य स्वतन्त्र रूप से आचरण करे किंतु ऐसा करना भी सामुदायिक स्तर पर व्यापक आनन्द के लिए हानिकारक भी हो सकता। क्योंकि किसी व्यक्ति को उसके रुचि के अनुसार आचरण करने की सुविधा प्रदान करना भी इस सिद्धांत के विरुद्ध नहीं जा सकता है। प्रमाण के लिए सूदखोरी के पक्ष में अधिक दर सूद पर सूद लेना-देना अपव्यय के आधार पर निंदनीय माना जाता है। किंतु इसकी ओर यह भी पाया जाता है कि इस प्रकार के उधार लेन-देन को कानून द्वारा दबाने से बहुत ही दुष्परिणाम भी निकलते हैं और उसके दुष्परिणाम मनुष्य के आनन्द को खण्डित करके उसे अपमानित करने में व्यक्त होते हैं।

विधायकों के समक्ष इन विभिन्न परिणतियों को कानून की दृष्टि से देखने और संतुलित करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह लक्ष्य चार प्रकार के होते हैं—सुरक्षा (Security), अस्तित्व बोध (Subsistence), पूर्ण तुष्टि (Abundance) और समानता (Equality)। यही चार तत्व हैं जो कुछ हद तक एक दूसरे के विरोध में भी प्रस्तुत होते हैं। आज भी यह कठिनाइयाँ उतनी ही जटिल हैं जितनी कि बेन्थम के काल में थीं। कुछ इस प्रकार की समस्याएँ सदैव उठती रही हैं और वे अपनी अनिवार्यता भी प्रदर्शित करती रही हैं। जैसे क्या जनता को भूखों मरने देना उचित है जबकि समाज का एक वर्ग जो सम्पूर्ण सम्पन्नता में जीवित रहता है और कभी भी उस पर कोई आक्षेप नहीं किया जाता? जमीन सम्बन्धी समस्याओं और जायदाद सम्बन्धी सुरक्षा के विषय में क्या किया जाना चाहिये? श्रमिकों और हड़तालों के बीच व्यवसाय और जन-विश्वास के डिगते हुए आधारों के विषय में क्या किया जाना चाहिये? उपर्युक्त बातों का उल्लेख

स्पष्टतया इसलिए किया गया है क्योंकि आज की समस्या यह है कि विरोधी लक्ष्यों और अधिकारों के बीच सामंजस्य स्थापित करने में बड़ी कठिनाइयों का अनुभव हो रहा है। इस दिशा में वे बलिदान होने चाहिये जो चाहे इस पक्ष के हों चाहे उस पक्ष के किंतु जिनकी आवश्यकता है और जिनके आधार पर ही सन्तोषजनक सुधारों को किसी प्रकार कार्यान्वित करना आवश्यक हो गया है। अधिक से अधिक सामान्यता का सन्तुलन कैसे प्रस्तुत हों? बिना सुरक्षा के यह सम्पन्नता कैसे सम्भव हो सकती है? किसी भी चीज का क्या मूल्य हो सकता है जब कि जीवन ही अनिवार्य आवश्यकताओं के अभाव में पड़ा हुआ हो।

दूसरा यह कि चूँकि विधायकों का मुख्य उद्देश्य जनता का कल्याण करना है और चूँकि कानून मानने के लिये ही बनाये जाते हैं न कि तोड़ने के लिये तब यह आवश्यक है कि कानून जनहित को अपने साथ रखकर अग्रसर हो। इसमें संदेह नहीं कि कानून कुछ स्थितियों में जरूर जबर्दस्ती लागू किये जाने चाहिये। कानून चाहे लोकप्रिय हो या न हो जबदस्ती लागू किये जा सकते हैं किन्तु यह सम्भव तभी हो सकता है जब जनता स्वतः उनमें रुचि रखती हो और उसे बिना किसी बेजा दबाव के स्वीकार कर ले। यह आवश्यक साधारण रुचि किसी भी विधायक को स्थायित्व और कुशलता प्रदान करती है और उस समुदाय के आनन्द और कल्याग के फैलाने के लिये सफल साधन सिद्ध हो सकती है। व्यापक असंतोप का अर्थ अन्ततोगत्वा विद्रोह में प्रकट होता है। इसलिये समुदाय की व्यापक स्वीकृति ग्रहण करना सुरक्षा की दृष्टि से एवम् विधायक की औचित्य की दृष्टि से स्पष्ट तथा आवश्यक है।

बेंथम द्वारा व्यावहारिक सुधारों की संख्या बहुत अधिक है। उनमें से एक तो (Poor Laws) के सुधार की बात है जो उसने स्वास्थ्य किन्तु निर्धन व्यक्तियों को उपयोग में लाने के लिये उठाई थी और भिखारियों और दरवेशों को समाप्त करने के लिये आग्रहशील था। इस सम्बन्ध में वह पहला व्यक्ति है जिसने निर्धन बच्चों की सुव्यवस्थित

शिक्षा का प्रारूप प्रस्तुत किया था और फ्रूगेलिटी बैंक्स (Frugality Banks) का प्रस्ताव भी इसी ने रक्खा था जिसका विकसित रूप सेविंग्स बैंक (Saving Banks) के रूप में आज भी प्रचलित है और जिसके माध्यम से देश का बहुत बड़ा कल्याण हुआ है। इसी प्रकार उसने स्वास्थ्य के विषय पर भी अपना ध्यान दिया था। और ऐसे सुझाव प्रस्तुत किये थे जो बोर्ड आफ हेल्थ (Board of Health) के उच्चाधिकारी एडविन चाडविक (Adwin Chadwick) द्वारा कार्यान्वित किये गये हैं और जो आज तक सैनीटेशन लेजिस्लेशन (Sanitation Legislation) के नाम से प्रचलित है। उसके विचार हर दिशा में समान रूप से फैले हुए थे और वे इतने अधिक व्यावहारिक थे कि वह आज तक तत्सम्बन्धी विधायकों के पारित होने की प्रेरणाएँ देते आ रहे हैं!

४—राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) :—अपने काल के अन्य विचारकों की भाँति बेंथम भी ऐडम स्मिथ के बड़े ही प्रबल अनुयायियों में था किन्तु बेंथम ऐडम स्मिथ से कई समस्याओं पर मतभेद भी रखता था और जहाँ कहीं भी ऐडम स्मिथ ने गलतियाँ की थी वहाँ उससे पृथक राय रखने में उसे कभी कोई संकोच नहीं होता था। प्रमाण के लिये वह ऐडम स्मिथ के इस विचार से सहमत होते हुए कि शासन सत्ता को माँग और खपत के सिद्धान्तों में कभी भी अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और व्यक्ति को अपने सामाजिक सदस्यों के साथ आर्थिक व्यवहार करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। बेंथम ने ऐडम स्मिथ के कर्ज (Usury) सम्बन्धी राज्य विधायकों का विरोध करते हुए इस मत को प्रतिपादित किया था कि राज्य में इन मामलों में भी नहीं हस्तक्षेप करना चाहिये। उसने स्मिथ द्वारा हस्तक्षेप के समर्थन को उसी के सिद्धान्तों का खंडन करने वाला घोषित किया था। उसके छोटी सी "डी-डिफेन्स आफ युज़ुअरी" (De Defence of Usury) नामक पुस्तक में इसी सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। पुस्तक का शीर्षक कुछ अंशों में भ्रान्तिजनक लगता

है। प्रस्तुत पुस्तक को उस रूप में कर्ज का समर्थक माना है जिस प्रकार कि उसके शीर्षक से बोध होता है। वरन् उसमें यह उद्घाटित किया है कि विधायकों को वैयक्तिक लेन-देन करने वालों से किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना बुद्धिसंगत बात नहीं है। क्योंकि इस हस्तक्षेप से लाभ की अपेक्षा हानि पहुँचने की सम्भावना अधिक है।

बेंथम (Bentham) स्वतंत्र व्यवसाय का कितना बड़ा समर्थक था इस बात की व्याख्या करना व्यर्थ है। उसने स्वतंत्र व्यवसाय के विषय के सैद्धान्तिक स्तर पर उसके विरोध में उठाये जाने वाले समस्त विवादों का उत्तर देते हुए समर्थन किया है और उस विषय पर अपने पांडित्य को भली भाँति प्रदर्शित भी किया है। यही नहीं उसने उनका प्रभाव अपने जीवन काल में ही देख भी लिया था अपनी "रायशनाल आफ रिवार्ड" (Rationale of Reward) में व्यवसाय सम्बन्धी प्रति-स्पर्धा (Competition) पूर्णतया स्वतंत्र सिद्धान्त का प्रबल समर्थन उसके लाभों को अंकित करते हुए किया है और यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि यदि प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति पर रोक लगाया जायगा तो वह किस प्रकार से दुष्परिणाओं को जन्म देगा। सभी प्रकार के नियंत्रण देश के राष्ट्रीय धन (National Wealth) को केवल हानि पहुँचाते हैं। स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा (Free Competition) की भावना के माध्यम से ही मूल्यों में कमी होती है और उत्पादन के उच्चस्तरें प्राप्त किये जा सकते हैं और नये-नये उद्योगों को प्रोत्साहन मिलने की शक्ति बढ़ सकती है। चूँकि व्यवसाय पूँजी का शिशु (Child of Capital) है इसलिये उसमें पूँजी (Capital) और व्यवसाय (Trade) के विषय में बहुत कुछ कहा है और इस विषय पर उसके विचार काफी चिंतन-योग्य है।

बेंथम को उपनिवेशों (Colonies) में कोई विशेष रुचि नहीं थी। यद्यपि उपनिवेशों की रक्षा से उनका और उनके निवासियों का बृहत कल्याण सम्भव था फिर भी वह उन्हें अपनी मातृभूमि की अपेक्षा कम धन उपार्जन का माध्यम मानता था। इस दृष्टि से वह उन्हें मुख्य रूप

से जिस स्थिति में हैं उसी स्थिति में रहने देना चाहता था। उसका यह मत था कि व्यवसाय को सुदृढ़ रूप से चलाने के लिये उपनिवेशों की आवश्यकता नहीं है। और तब पूँजी का वह भाग जो उपनिवेशों में व्यवसाय बढ़ाने के लिये व्यय होता है वह अन्य उत्पादन शक्तियों में प्रयुक्त हो सकता है। यह सिद्धान्त उपयोगितावादी (Utilitarian) विचारकों में समान रूप से पाया जाता है। उस समय तक साम्राज्य-वाद (Imperialism) का प्रभाव विकसित नहीं हो पाया था और उसे न तो स्वदेश का समर्थन उस रूप में प्राप्त था और न उपनिवेशों का। किसी भी संकट के समय उन्हें न तो आदमियों से सहायता मिल पाती थी और न आर्थिक सहायता मिल पाती थी क्योंकि उपनिवेशों की सम्भावित शक्ति स्रोतों का विकास उस समय तक दूरदर्शिता के रूप में दृष्टिगत नहीं हो सके थे!

बेंथम ने एकाधिपति (Monopolies) और तथाकथित लाभपूर्ण (Bounties) के विरोध किस-किस रूप में किये हैं यह बात विगत इतिहास बन कर रह गया है। इसलिए उस विषय में अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उसका मुख्य उद्देश्य उन झूठे सिद्धांतों का खण्डन करना था जिनके आधार पर उस समय के विधायक राष्ट्रीय सम्पत्ति को विकसित करना चाहते थे और जहाँ तक उसके खण्डन का प्रश्न है उसमें उसे निश्चित सफलता भी मिली है।

५—शिक्षा (Education) सम्बन्धी दृष्टिकोण :—अन्य सुधारकों की भाँति बेंथम भी व्यक्ति के आनन्द और उसके कार्य-क्षमताओं में विकास तथा प्रजातीय (Race) विकास के लिए शिक्षा की शक्ति के प्रति अटूट विश्वास था। उसने राष्ट्रीय शिक्षा (National Education) पद्धति का प्रबल समर्थन किया था और वह शिक्षा को उसी रूप में अनिवार्य रूप से लागू करना चाहता था जिस प्रकार कि वह मताधिकार के सम्बन्ध में व्यापक स्तर का समर्थक था। यही नहीं उसने अपनी पैनाप्टिकन (Panopticon) पद्धति में अभियोगियों को शिक्षित बनाने की योजना भी बनाई थी। इस दिशा में उसने दो पद्धतियों

का निर्माण किया था जिसमें से प्रथम तो गरीब और निम्न श्रेणी के लोगों की शिक्षा सम्बन्धी योजना थी और दूसरी योजना मध्यम वर्ग और समाज के उच्च वर्गों से सम्बन्धित थी। प्रथम योजना धनहीन (Pauper) बच्चों की शिक्षा के सम्बन्ध में विशेष बल देती थी। इस वर्ग के प्रति वह राज्य द्वारा विशेष ध्यान दिलाने की अपेक्षा रखता था। इस सम्बन्ध में उसने पुअर ला (Poor Law) और उसकी व्यवस्था में इस शिक्षा पद्धति के प्रति विवेचनात्मक ढंग से पूर्ण समर्थन भी किया है। वह चाहता था कि यह सुविधाहीन समाज के अभागे वंचित वर्ग के लोग जो समाज द्वारा अभिशिप्त जीवन व्यतीत कर रहे हैं वे सम्राट की अच्छी एवम् लाभ पहुँचाने वाली जनता के रूप प्रस्तुत हो सकें। इसके लिए ऐसे नियमों का निर्माण करना वह आवश्यक समझता था जो उनको अच्छी आदतों की बुनियादी आवश्यकता के प्रति जागरूक बना सकें। और इसके लिए वह नैतिक शिक्षा को अनिवार्य मानता था। वैयक्तिक चरित्र ही वह प्राथमिक आवश्यकता थी जिसके आधार पर वह सामाजिक व्यवहार और सैद्धांतिक विचार के आचरित करने के लिए व्यावहारिक एवम् उपदेशात्मक व्यवहारों को प्रयोग में लाना चाहता था ताकि वे तत्व सन्तोषजनक स्थिरता के रूप में प्रस्तुत हो सकें। इस सम्बन्ध में दूसरी आवश्यक वस्तु वह परिस्थितियों से सम्बन्धित शिक्षा की आवश्यकता को अनिवार्य मानता था। ऐसे बच्चों को जो बिना शारीरिक श्रम किये जीवन-निर्वाह नहीं कर सकते थे उनके लिए वह ऐसे व्यवसायों के माध्यम से शिक्षा योजना बनाना चाहता था जिससे वे अपना जीवन यापन भी कर सकें और शिक्षित भी हो सकें। इससे भी आगे वह मानसिक स्तर में विकास लाने को प्रमुख स्थान देता था और ऐसी बौद्धिक शिक्षा का समर्थक था जो मानसिक शक्तियों को विकसिक करके व्यक्ति को स्थायी आनन्द स्रोतों की शक्तिमत्ता प्रदान कर सके। इस प्रकार वह निर्धन बच्चों के स्तर को ऊपर उठाने और उनके स्वतन्त्र साधनों के माध्यम से जीवन-निर्वाह करने की शक्ति देना चाहता था। इन समस्त योजनाओं में बेंथम अपने समय से बहुत आगे

था। उस समय आज की भाँति लोग सामूहिक स्तर पर शिक्षा के विस्तार की बात नहीं सोचते थे। इसके विपरीत सामूहिक शिक्षा के प्रति लोगों की कुछ भी रुचि नहीं थी। विधायक और शासकवर्ग सर्व साधारण को शिक्षा की सुविधा देने से डरते थे क्योंकि वह समझते थे कि शिक्षा के प्रसार से समाज में बड़े खतरे उत्पन्न हो जायँगे। वे इस सम्बन्ध में व्यय की बात की शिकायत करते थे। जनता में अविश्वास और स्वार्थरत आर्थिक पद्धति के कारण इस समय की स्थितियाँ उसी रूप में चलती जा रही थीं।

किन्तु बेंथम ने धनीवर्ग के लिए भी जिसे वह मध्यम और उच्च वर्ग का जीवन (The middling and higher rank of life) के नाम से सम्बोधित करता था उनके लिए भी एक शिक्षा पद्धति का निर्माण किया था। उसकी यह योजना १८ वीं० शताब्दी के अन्त में प्रस्तुत की गई। वह आधुनिकतम शिक्षा पद्धति के आधार पर निर्मित हुई थी। समकालीन शिक्षाशास्त्रियों में से डाक्टर ऐन्ड्रू बेल (Dr. Andrew Bell) और जाजेफ लैंकृकास्टर (Joseph Lancaster) जैसे दो विद्वानों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनमें से एक तो स्काट वासी थे और दूसरे अँग्रेज थे। इनकी शिक्षा पद्धतियों में स्कूलों में मानीटरी पद्धति (Monitorial System) द्वारा ऐक्य (Spirit of Unity) और संयुक्त आचरण (Corporate action) की भावनाओं के विकसित करने की भावना प्रमुख थी अर्थात् इस पद्धति में बड़े और अग्रिम अवस्था के विद्यार्थियों के माध्यम से छोटे और पिछड़े विद्यार्थियों के शिक्षित करने की योजना प्रस्तुत की गई थी। स्काटलैण्ड के हाई स्कूल आफ एडिंबरा (High School of Edinburgh) के डा० पिलन्स (Dr. Pillans) द्वारा लैटिन और ग्रीक की शिक्षा में इस पद्धति का प्रयोग किया गया था किन्तु बेन्थम ने इस योजना को अधिक व्यापक रूप देकर उसे नया कलेवर दे दिया। तत्सम्बन्धी विचारों को उसने अपनी पुस्तक क्रस्टोमेथिया (Chrestomathia) में बहुत अच्छी तरह वर्णित किया है। क्रस्टोमेथिया (Chrestomathia) नाम बड़े महत्व का है। यह शब्द बेंथम द्वारा गढ़ा

गया था (यद्यपि बेंथम को बाद में यह पता चला कि उसके पहले भी यह शब्द प्रयुक्त हो चुका है) जो दो ग्रीक शब्दों के संयुक्त रूप से बना है और जिसका अर्थ है उपयोगी शिक्षा अर्थात् उपयोग में आने वाली वस्तुओं का अध्ययन (The study of useful things) था। इस संयुक्त शब्द में उपयोगिता पर विशेष बल दिया गया था।

जिन सिद्धांतों के आधार पर क्रेस्टोमैथिक (Chrestomathic) पद्धति का निर्माण हुआ था वह इस प्रकार है : सर्वप्रथम तो यह कि इस पद्धति में मात्र बौद्धिक शिक्षा पर बल दिया गया है एवम् नैतिक और धार्मिक शिक्षा को जान-बूझ कर बचाने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार लैंकास्टर और बेल (Lancaster and Bell) की शिक्षा पद्धति से यह पद्धति सर्वथा भिन्न हो जाती है क्योंकि लैंकास्टर (Lancaster) ने धार्मिक ज्ञान के बिना साम्प्रदायिकता के ग्रहण करने पर बड़े जोश के साथ आग्रह किया था। बेल (Bell) ने धार्मिक एवं चर्च आफ इंगलैण्ड (Church of England) की धर्म शिक्षा के आधार पर ही अपनी योजना बनाई थी। ऐसी स्थिति में बेंथम को अपने विचारों की व्याख्या करने के लिए विशेष योग करना पड़ा था। अपनी क्रेस्टोमेथिया (Chrestomathia) नामक पुस्तक में उसने शिक्षा के मूल्य और उसकी उपयोगिता अथवा विशुद्ध बौद्धिक प्रकार की प्रशिक्षा पर बहुत ही बृहद् रूप से सविस्तार वर्णित किया है। इसके बाद उसने अपनी शिक्षा पद्धति को इस दृष्टि से प्रस्तुत किया है (यद्यपि जब वह लिख रहा था तब उसके प्रति इतना जागरूक नहीं था) कि शिक्षा को उपयोगिता की दृष्टि से विकसित होना चाहिये और उसमें इस बात पर विशेष ध्यान होना चाहिये कि उसमें विद्यार्थी के जीवन में अपनाने वाले विषयों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। यह विचार उसने इसलिए प्रस्तुत किये थे क्योंकि उस समय परम्परावादी साहित्य (Classics) पर विशेष बल दिया जाता था और उसी का प्रचलन भी था। बेंथम को व्यक्तिगत रूप से क्लासिकल (Classical) शिक्षा के प्रति कोई शिकायत नहीं थी क्योंकि वह स्वयम् ग्रीक और लैटिन का बहुत बड़ा विद्वान था और

अपने विचित्र पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में ग्रीक ज्ञान का उपयोग भी करता था किन्तु वह यह अनुभव करता था कि संसद के सदस्यों को एक विशेष प्रकार की शिक्षा मिलनी चाहिये क्योंकि मृत भाषाओं के अध्ययन से कोई प्रभावपूर्ण लाभ होना सम्भव नही है। उसका विश्वास छोटी आयु वालों को प्रकृति और प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science) के सम्पर्क में आना अधिक उपयोगी था। इस सम्पर्क के माध्यम से वह उनकी रुचि को सृष्टि की रचना क्रम, उसकी प्रक्रिया और उसके कार्य-कलाप पर केन्द्रित करके उनकी नवोदित शक्तियों को सर्वथा नये क्षेत्रों तक ले जाना चाहता था। इसी कारण से वह उपयोगितावादी कला (Useful Skill) तथा बौद्धिक ज्ञान को समान रूप से एक स्तर पर रख कर समान स्थान देता था और आधुनिक भाषाओं के अध्ययन को वह अधिक मूल्यवान मानता था। आधुनिक विकासों को देखते हुए उसकी शिक्षा प्रणाली में प्राकृतिक विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र और जीवशास्त्र सम्बन्धी आग्रह को देखते हुए बड़ा आश्चर्य मालूम होता है। यदि वह आज के युग में जीवित होता तो वह निश्चय ही स्थानीय इतिहास और वास्तुकला को भी शिक्षा का अंग बनाता। उसकी शिक्षा पद्धति की तीसरी विशेषता यह है कि उसने विषयों के वर्गीकरण पर विशेष ध्यान दिया है। और उनके अनुक्रम के आधार को तर्कसंगत सिद्धांतों के साथ प्रस्तुत करने की चेष्टा इस प्रकार की है :—"सर्वप्रथम उन चीजों की शिक्षा जो सरलता के साथ ग्रहण हो सकें अर्थात् शिक्षा देते समय शिक्षार्थी की ग्रहण शक्ति पर ध्यान देना आवश्यक है। इसलिए उसे उसकी रुचि और स्वाभाविक प्रकृति के विरुद्ध मत ले जाओ। इस पद्धति का लक्ष्य शिक्षार्थियों के ज्ञान को व्यापक बनाना था और उनकी रुचि को पहचानना तथा उनकी सहानुभूत्यात्मक शक्ति को अधिक विशाल बनाना था ताकि वे इस योग्य हो सकें कि वे जीवन से अधिकाधिक आनन्द ग्रहण कर सकें और एक योग्य नागरिक बनने की सामर्थ्य ग्रहण कर सकें।"

बेंथम ने स्कूलों की व्यवस्थात्मक समस्या पर समान रूप से ध्यान

दिया है। इस सम्बन्ध में उसने मानीटरी व्यवस्था (Monitorial System) की विशेष व्याख्या की है और अपने युग के विपरीत उसने स्कूल से शारीरिक दण्ड को हटा देने का प्रबल आग्रह किया है।

उपर्युक्त बातें बड़ी महत्व की हैं और इनसे यह पता चलता है कि बेंथम की दृष्टि ग्रेट ब्रिटेन (Great Britain) की भावी शिक्षा पद्धति के बिल्कुल अनुकूल थी। यही नहीं बेंथम के विचारों ने भी देश की शिक्षा सम्बन्धी प्रगति में उसके कल से लेकर आज तक के समस्त विकासों को समान रूप से प्रभावित किया है। मानीटरी पद्धति से लेकर शिक्षार्थी शिक्षक पद्धति तथा नार्मल स्कूलों (Normal Schools) की पद्धति जिसमें शिक्षकों को सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक स्तर पर प्रशिक्षित करने की व्यवस्था की गई है उसके विचारों से विशेष रूप में प्रभावित है। आज के युग में राज्यसंरक्षण के अन्तर्गत शिक्षा विभाग (Education department) तथा सेन्ट्रल बोर्ड (Central Board) द्वारा जितने प्रशिक्षा केन्द्र (Training Centres) एवम् प्रांतीय कमेटियाँ (Provincial Committees) कार्य कर रही हैं वह सब बेंथम के विचारों की परिणति है। यह सब अन्य अँग्रेजी भाषा-भाषी देशों में जैसे यूनाइटेड स्टेट्स और कनेडा (United States and Canada) में जिस प्रकार प्रयुक्त हो रही है उसमें के अधिकांश के लिए हम बेंथम के आभारी हैं।

अध्याय ५

बेन्थम का न्यायशास्त्री और कानून सुधारक के रूप में महत्व

[कानून-सुधार—दण्ड एवं जेल सम्बन्धी सुधार]

१—कानून सुधार (Law Reform)—बेन्थम के काल में यद्यपि कई प्रकार के आन्दोलन चल रहे थे; फिर भी कानून-सुधार आन्दोलन से बढ़कर कोई भी अन्य आन्दोलन उतना व्यापक नहीं हो पाया था। यही कारण है कि बेन्थम ने अपनी समस्त चेतना-शक्ति और प्रतिभा कानून-सुधार को सफल बनाने में तत्परता के साथ लगा दिया। वह जनता का बहुत बड़ा शुभचिन्तक था और उसकी यह हार्दिक इच्छा थी-कि पददलित एवं उपेक्षित जनता के प्रति उचित न्याय और सद्व्यवहार किया जाय। उसकी इसी सदाशयता का व्यवहार ही उसकी सफलता का कारण है। कानून के सम्बन्ध में उसने जो कुछ लिखा अथवा कानून से सम्बन्धित विषयों पर उसने जितना कार्य किया है; वह सब स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दिया जा सकता। हाँ, उसने जो कुछ लिखा है, वह अधिकतर उस समय में वर्त्तमान कानूनों की आलो-चना से सम्बन्ध रखता है। यही नहीं, उसमें उस समय की व्यवस्था की आलोचना भी मिली हुई है। नये कानूनों की पक्षघटीय अथवा विपक्षीय आलोचनाएँ भी उसके लेखों का बहुत बड़ा अंश है। साधा-रण कानून (Common Law) या राजविधान (Statute Law) चाहे जो जिस रूप में हो, यदि वे इंगलैंड में किसी भी रूप में प्रच-

लित थे तो बेन्थम ने उनका सफल विवेचन और विश्लेषण करके उनकी व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। ऐसा करने में उसने वकीलों और जजों तक को क्षमा नहीं किया है, किन्तु प्रस्तुत आलोचना बेन्थम के कार्यप्रणाली का केवल एक अंशमात्र है। वह कभी भी मात्र खण्डन-वादी या नकारवादी विचार का समर्थक नहीं रहा है—उसका उद्देश्य सदैव रचनात्मक और निर्माणात्मक क्रियाशीलता में रहा है; और उसकी आलोचनाएँ भी इसी उद्देश्य से प्रभावित होकर प्रस्तुत हुई हैं। उसकी महत्वाकांक्षा एक बहुत बड़े कानून-सुधारक के रूप में यश पाने में थी। इसी के लिये उसने विभिन्न योजनाएँ बनाई थीं और प्रचलित कानूनों की बुराइयों और दुरुपयोगों को व्याख्यित करके अपने मतानुसार आदेश उपस्थित करने की चेष्टा करता रहा है।

उसके प्रयास निष्फल नहीं हुए हैं। उसके प्रत्येक व्यावहारिक सुधारों में से एक तो अभी-अभी संसद (Parliament) द्वारा स्वीकृत हुआ है; जिसके अनुसार अभियोगी को भी अपनी गवाही देने का अधिकार बिना उसके मुकदमे पर किसी भी प्रकार का आरोप स्वीकार किये समान माना गया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में भी उसकी विशेष रुचि थी और उसकी अपनी निश्चित धारणाएँ थीं, जिनको वह मूल्यगत सिद्धांतों के रूप में मानता था। इस विषय से सम्बन्धित उसके लेखों ने इस अन्तर्राष्ट्रीय समस्या को समझाने, सुलझाने और महत्व देने में बड़ा योगदान दिया है। उसने प्रायः समस्त दिशाओं में नेतृत्व प्रदान करके अपनी अद्वितीय आत्म-दृष्टि और बुद्धिमत्ता (Unwonted insight and wisdomers) का परिचय दिया है। यही कारण है कि राजविधान (Constitution) और कानून के सुधारकों (Judicial Reformers) में उसका नाम सर्वोत्कृष्ट स्थान पर माना जाता है। सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) के शब्दों में "मैं बेन्थम के काल से लेकर आज तक के समस्त कानून-सुधारों में से कोई भी ऐसा नहीं पाता जो बेन्थम के विचारों से प्रभावित न रहा हो।"

यहाँ पर विवरणात्मक रूप में यद्यपि उसकी कृतियों का वर्णन

करना असम्भव है फिर भी हमारे लिए मात्र उन बहुत से विचारों को जान लेना ही पर्याप्त होगा जिनके आधार पर बेंथम के विचारों को गति मिली थी।

और तब सबसे पहली बात जिसके प्रति बेंथम बड़ा जागरूक था वह उस समय देश में कानून के विश्रृङ्खल, अव्यवस्थित (chaotic) रूप थे जो प्राचीन काल से परम्परा के रूप में चले आ रहे थे, किन्तु जिन्हें वह क्षमा करने के लिए तैयार नहीं था। वह उन समस्त परम्पराओं को छानना चाहता था ताकि उनके सड़े-गले रूप पृथक किए जा सकें, अनुपयोगी रूढ़ियाँ तिरस्कृत की जा सकें और फिर जो बच रहें उनको सव्याख्या रूप में वर्गीकरण करके प्रस्तुत किया जा सके। इस प्रक्रिया के लिए वह अपना एक विशेष शब्द प्रयोग करता था जिसे शास्त्रीयकरण (Codification) कहा जाता है। यदि उसे इस कार्य में प्रोत्साहन मिलता तो शायद वह स्वतः देश के प्रचलित कानूनों का शास्त्रीयकरण (Codification) कर डालता। उसका उपयोगितावाद में दृढ़ विश्वास था, इसीलिए उसे ऐसा करने की वृहद प्रेरणा भी मिलती थी। जब वह ऐसा नहीं कर सका तो उसने अपना अधिक समय उन परम्परागत कानूनों की कटु आलोचनाओं और उनके कुत्सित भ्रमपूर्ण रूपों के खण्डन में लगा दिया। साथ ही उसने यह भी दर्शाया कि यदि प्रस्तुत कानूनों पर ईमानदारी से कार्य किया जाय तो उनके क्या उचित परिणाम निकल सकते हैं। उसने अपने सिद्धांतों को व्यावहारिक भी किया और उनका प्रयोग दूसरे देशों के कानून-सुधार में (जैसे फ्रांस और रूस) किया। इस प्रकार उसने ठोस रूप में यह प्रदर्शित कर दिया कि किस प्रकार उसके सिद्धांत कार्यान्वित हो सकते हैं। यह घटनाएँ यह भी सिद्ध करती हैं कि वह अपने सिद्धांतों को प्रयुक्त करने में कितना व्यावहारिक और क्रियाशील रहा है।

वह कानून को भी उनकी दृष्टि से भी देखता था जिन पर कि वे लागू किये जाते हैं। वह निश्चित मत का था कि देश का प्रत्येक कानून उन सब को सुलभ तरीके से ज्ञात होना चाहिये जो कि उनका अनुसरण

करने के लिए बाध्य किये जाते हैं। यदि कोई भी अनभिज्ञ अभियोगी अभियोग के दण्ड से मुक्ति नहीं पा सकता (वकीलों के ऊपर व्यंग्य करते हुए वह कहता है कि केवल कानूनदाँ ही कानून से अनभिज्ञ होकर बच सकता है) तो राज्य का यह कर्तव्य है कि वह कानून-सम्बन्धी अनभिज्ञता को जहाँ तक सम्भव हो, दूर करने की चेष्टा करे। यह कार्य सर्वसाधारण की शिक्षा द्वारा एवं बहुत सस्ते दामों पर पारित किये गये कानूनों की प्रतियाँ बनवा कर सम्भव हो सकता है।

किन्तु फिर भी बहुत कुछ ऐसा है जो इनके अतिरिक्त भी करना आवश्यक है। यदि कानून जो कि सर्वमान्य रूप से माने जाते हैं उनको जन-साधारण तक प्रेषित करके उन्हें जागरूक बनाना है तो उसे बहुत ही सीधे-सादे, छोटे वाक्यों के माध्यम से ही पारित होना चाहिये। बेन्थम कानून सम्बन्धी असाधारण व्याख्याओं और उनके रूपों की विशेष रूप से खिल्ली उड़ाता था। वह कानून के आलेखन (Drafting) शैली एवं अत्यधिक खोज-बीन (Trenchancy) की प्रवृत्ति का बड़ा प्रबल आलोचक था। वह सदैव अनावश्यक पारिभाषिक शब्दावली (Unnecessary Technicality), रहस्यात्मक गम्भीरता, नीरस पुनरोक्ति (Secrecy, repetitions of redunduncies) एवं रूढ़िग्रस्त, शिथिल (obselete) रचना विन्यास का कट्टर विरोधी था और जन-साधारण के हित के लिए वह जहाँ तक सम्भव हो सके सीधी-साधी भाषा और सरल वक्तव्यों द्वारा स्पष्टीकरण का ही समर्थक था। अपने मत को स्थापित करने के लिए उसने प्रामाणिक कानूनी उक्तियों (concrete examples) द्वारा इसकी आवश्यकता सिद्ध भी कर दी थी। यही कारण है कि जब वह ठोस या स्थूल वस्तु-स्थिति का वर्णन करता है तो वह सर्वोत्कृष्ट रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है।

उपर्युक्त स्थितियों से किसी भी अंश में वह कानून की प्रायोगिक विधि की कटु आलोचना नहीं करता था। यह मानता था (न्यायसंगत रूप में भी मानता था) कि कानून के प्रयुक्त होने में गरीब जनता बुरी

तरह मुकदमे के रूप में पीड़ित होती है। उसे अनावश्यक व्यय, अकाल्पनिक देरी, अनिश्चयात्मकता और उलझन का सामना करना पड़ता है। किसी भी वस्तु के लिए अभियोगी और जज का सीधा सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता। इनके बीच बाधा रूप में अनावश्यक दलालों, वकीलों और बैरिस्टरों की इतनी बृहद् शृङ्खला है कि खर्चे पर खर्चा बढ़ जाता है और हर बार ऐसा लगता है कि "इस देश में न्याय बेचा जाता है और बहुत महँगे-भाव पर बेचा जाता है; वह जो न्याय की कीमत देकर उसे खरीद नहीं सकता; वह कभी भी न्याय नहीं पा सकता।" किसी अन्य स्थान पर (जैसे लार्ड एल्डन (Lord Eldon) का ज्वलन्त प्रमाण हमारे सामने है) न्यायाधीश अपने फैसले को इतनी लम्बी अवधि तक टालते रहते हैं कि अभियुक्त दलों के धीरज और अनिश्चयात्मकता उन्हें स्वयं चूर-चूर कर देती है। इसी से सम्बन्धित न्याय-व्यवस्था में वह खिझाने वाली बात भी है जो अत्यधिक और विशिष्ट-वादी होने के नाते न्याय की हत्या कर देती है।

यही कारण है कि न्यायालयों की कार्य-विधि में विशेष सुधार करने की नितान्त आवश्यकता है। बेन्थम के हृदय में न्यायाधीशों के प्रति तनिक भी श्रद्धा नहीं थी। वह न्यायाधीशों को सम्बोधित करके उन्हें जज और उनकी कम्पनी (Judge and Co.) की सत्ता से पुकारता था। जजों के विषय में अत्युक्त्यात्मक शैली में एक स्थान पर वह लिखता है—"प्रचलित न्याय-व्यवस्था के अन्तर्गत न्यायाधीशों की आलोचना करते हुए मैंने इस सीमा तक दृष्टान्त दर्शा दिये हैं कि न तो अभी तक उन दृष्टान्तों में से एक भी दृष्टान्त का कहीं किसी ने कोई विरोध किया है और न भविष्य में करेगा ही। वस्तुस्थिति यह है कि कुत्सित वृत्ति और उदात्त वृत्ति की बात को कौन कहे, अभियोगियों में से वे अभियोगी जिन्हें कृत्रिम अपराधी के रूप में न्यायाधीश फाँसी पर लटका देते हैं वे स्वयं उनकी तुलना में उनसे कहीं अधिक उदार और उदात्त भावना के होते हैं।" उसका यह भी मत था कि—"हमारे कानून न्यायाधीशों द्वारा न्यायाधीशों की हित-रक्षा के लिए बनाये

जाते हैं" और यही कारण है कि छोटे-छोटे सुधार प्रस्तुत होते थे तो वह उनको बहुत ही घृणित दृष्टि से देखता था क्योंकि उसकी यह दृढ़ धारणा थी कि बहुव्याप्त वैधानिक कुरीतियों को एक झटके में समाप्त कर देना चाहिये। उसने लार्ड एल्डन (Lord Eldon) के विरुद्ध बोलते हुए सशक्त स्वरों में झिड़क कर कहा कि लार्ड एल्डन कानून सम्बन्धी सुधारों का कट्टर विरोधी था। यही कारण था कि न्यायाधीशों की मनमानी कार्यविधि पर रोक लगाने के लिए वह जूरी-व्यवस्था का हृदय से समर्थन करता था। वह न्याय के मामले में व्यक्तिगत दायित्व पर इतना अधिक बल देता था कि वह दो-तीन जजों के मण्डल (Tribunal) की अपेक्षा एक जज की अदालत को श्रेयस्कर मानता था। उसका यह मत था कि बहुसंख्यक न्यायाधीशों का मण्डल किसी भी मुकदमें के न्याय-संगत निर्णय देने में दायित्व सम्बन्धी दुर्बलता दर्शित करते हैं। मतभेदों के अवसर पर एकमत के अभाव में उस मण्डल का प्रत्येक न्यायाधीश अपना अलग निर्णय देना क्षम्य समझता है। इसका परिणाम जनता पर बुरा पड़ता है और अनेक प्रकार के ऐसे भ्रमों को उपजने का अवसर प्रदान करता है जिसमें यह अनुभव होने लगता है कि जैसे पूर्ण-न्याय कभी भी संभव नहीं हो सकता। इसी से संबन्धित न्यायाधीशों की नियुक्ति की बात भी आती है। इनकी नियुक्ति क्रमशः योग्यता और सुचारु रूप से शिक्षा मिलने पर आधारित होनी चाहिए। पक्षधरीय उद्देश्यों की पूर्ति का विचार, न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में कभी भी नहीं लागू की जानी चाहिये। यही कारण है कि बेन्थम अपनी इन धारणाओं के कारण समाज के उन सम्भ्रान्त व्यक्तियों द्वारा तिरस्कृत समझा जाता था जो उस समय देश में न्याय के प्रशासक एवं प्रयुक्ता थे। बेन्थम को इसीलिए अपनी बात भैंस के आगे बीन बजाने की तरह लगती थी।

उपर्युक्त बातों का औचित्य स्वतः स्पष्ट है। किन्तु आश्चर्य तो यह होता है कि यह सारी बातें एक साथ, एक समय पर बेंथम द्वारा कैसे कही जा सकीं।

२. दण्ड और जेल (Punishment and Prison)—दण्ड का मुख्य उद्देश्य अपराधों को रोकना है। किसी भी कुकृत्य का दण्ड उसकी विशेष स्थिति और मन्तव्य के अनुकूल ही होना चाहिए। अर्थात्, प्रस्तुत मन्तव्यानुकूलता से न तो कम होना चाहिए और न अधिक। दण्ड का औचित्य और उसकी सुनिश्चित कसौटी बेन्थम की दृष्टि में सामुदायिक कल्याण ही है। दूसरे शब्दों में, उसका मत है कि दण्ड का औचित्य जन-कल्याण की सुरक्षा द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है। इन्हीं कारणों से दण्ड देने के अधिकार को वह दलगत व्यक्तियों के हाथ से ठीक उसी तरह पृथक कर देना चाहता है जैसे कि वह अभियुक्त के हाथों में दण्ड देने का अधिकार नहीं देना चाहता। दलगत व्यक्ति अपने वर्ग और दल के दृष्टिकोण से न्याय करता है। इसलिए वह जो भी दण्ड देगा या तो वह विपक्षियों पर अत्यधिक रूप में आरोपित होगा या सदस्यों के प्रति बड़ा ही उदार रूप में प्रस्तुत होगा। अस्तु, परि-स्थितियों के अनुकूल ऐसे न्यायाधीश का निष्पक्ष होना सम्भव नहीं हो सकेगा। भुक्तभोगी मनुष्य या तो मानसिक विक्षिप्तता में अपने और मित्रों की त्रुटियों के छिद्रान्वेषण में लग जायगा और उसकी प्रतिक्रिया आत्मतिरस्कृति एवं विद्वेष के नाते प्रतिहिंसा और बदले से अनुप्राणित होगी।

मानव-प्रकृति जब अप्रत्याशित रूप से दबा दी अथवा अपमानित की जाती है तो उसकी अभिव्यक्ति, आत्मतुष्टि और आत्ममोह में व्यक्त होती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि भुक्तभोगी की मानसिक स्थिति और निर्धारित दण्ड में अनुपातात्मक सम्बन्ध नहीं होता। शान्तिपूर्ण एवं विवेक-प्रधान परिस्थितियों और विचारों के अभाव में जब न्याय भावना नहीं होती तो ऐसे न्याय में अत्याचारी प्रतिरोधी भाव की प्रचुरता होती है। दोनों परिस्थितियों का परिणाम सामुदायिक जीवन के लिए घातक सिद्ध होता है।

यह परिणाम (Consequences) और इसका विचार ही इस बात का निर्णय करते हैं कि किसी भी हत्याभियोगी को प्राणदण्ड देना कहाँ

तक उचित हो सकता है। वस्तुतः प्राणदण्ड से सम्बन्धित जो प्रश्न उठाये जाते हैं उन का वास्तविक सन्दर्भ यह नहीं है कि जीवन व्यक्ति की अविभाज्य सम्पत्ति है जिसे कोई भी उससे पृथक नहीं कर सकता, चाहे वह कोई राज्य-सत्ता ही क्यों न हो। वस्तुतः प्रश्न यह है कि क्या हत्या-अपराधी को प्राणदंण्ड से कम दण्ड देकर न्याय के दायित्व को निभाया जा सकता है और समाज की सुरक्षा और उसका कल्याण सम्भव हो सकता है। इस पर विचार करते समय न तो ऐसे भावावेश से काम लेना चाहिये जो वस्तुस्थिति को ही उलट दे और न किसी पूर्वाग्रह और मिथ्या समर्थन द्वारा सूक्ष्म अधिकार की व्याख्या करके प्रश्न को दिग्भ्रमित करना चाहिये। इस समस्या पर विचार करने में जिस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना आवश्यक है वह यह कि किस सीमा तक सार्वजनिक हित के लिए किसी भी अभियोगी को प्राणदण्ड (Capital Punishment) देना उचित है और यदि अभियोगी को प्राणदण्ड न दिया जाय तो क्या इससे समाज का अपेक्षाकृत अधिक अहित होगा और ऐसा करने से दूसरों को अपराध करने का ऐसा प्रोत्साहन मिलेगा जिससे समाज की व्यापक सुरक्षा नष्ट होगी? यदि प्राणदण्ड (Capital Punishment) ही दिया जाय तो क्या इससे बुराइयाँ अधिक बढ़ेंगी? वस्तुतः हर दशा में बुराइयों में से ही चुनाव करना है क्योंकि दण्ड देना भी एक बुराई है। (Punishment is a crime) और कोई भी सैद्धान्तिक आधार हमारे समक्ष यह नहीं सिद्ध कर सकता कि प्राणदंड देने से हर हालत में समाज का हित (Ultimate good of Society) होगा।

इसी से सम्बद्ध प्रश्न यह भी है कि क्या प्राणदण्ड केवल हत्या के अपराधी तक ही सीमित रखा जाय? क्या यह दण्ड दूसरे अपराधों में (जैसे, भेड़ चुराने का अपराध अथवा जालसाजी का अपराध) यह दण्ड प्रयुक्त नहीं हो सकता? वस्तुतः इन प्रश्नों का निराकरण और समाधान परिणामों के सिद्धांत (Principle of Consequences) या सर्व हित (General Good) के आधार पर ही सम्भव है। यदि

बेंथम के काल से भेड़ चुराने वाले को अब प्राणदंड नहीं दिया जाता, फाँसी पर नहीं लटकाया जाता तो इसका मुख्य कारण यह है कि प्रति-बोधात्मक रूप में यह अनुभव किया जा चुका है कि अपराध की तुलना में उपयुक्त दंड बहुत भारी और बिना अनुपात का है। इस प्रकार के न्याय करने में न्याय की अपेक्षा अन्याय हो जाता है और इस प्रकार यदि आज जालसाजी के अपराध में किसी को प्राणदंड नहीं मिलता तो उसका मात्र कारण 'यह है कि प्राणदंड देना अपराध की उपयुक्त सीमा से कहीं बड़ा अपराध स्वयं बन जाता है। ऐसा आवेगपूर्ण न्याय करने से हानि अधिक होती है और हित नहीं हो पाता।

अब प्रश्न यह है कि अपराधियों का सुधार (Reform of the Criminal) कैसे हो ? सर्वाधिक आनन्दवाद (Greatest Happiness) के सिद्धांत को अत्यधिक आग्रहपूर्वक लागू करने से हो सकता है यह बात गौण मालूम हो और ऐसा अनुभव हो कि समाज के व्यापक आनन्द और हित के समक्ष व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है किन्तु बात ऐसी नहीं है। समाज का कोई अस्तित्व नहीं होगा यदि उसमें उन व्यक्तियों के हित की भावना निहित न होगी जो उसके सदस्य हैं और तब ऐसी अवस्था में समाज के अपराधी सदस्यों के विषय में भी हमें विचार करना पड़ेगा। अस्तु, अपराधियों का निजी हित दंड द्वारा प्रस्तुत परिणामों के अवशेष हैं। कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि प्राणदंड (Capital punishment) मात्र शत्रु भाव के द्योतक हैं और अपराधी के सुधार का विरोध करता है। ऐसा करने से निश्चय ही सुधार की सम्भावनाएँ नष्ट होती हैं और अपराधी को सुधारने का अवसर नहीं देतीं। किन्तु, उस स्थिति में क्या होगा जब अपराधी अपनी मुक्ति के अवसर को सुधारने (reformation on his part) में न लगा कर अधिकाधिक भयङ्कर एवं पतित अपराधों द्वारा समाज को पीड़ित और कुंठित करने लगेगा। ऐसी अवस्था में अपराधी के वैयक्तिक हित के लिए भी इन अवसरों द्वारा प्रस्तुत सुविधा हितकर नहीं सिद्ध होगी।

किन्तु इन अतिवादी स्थितियों और परिस्थितियों के होते हुए भी बेन्थम का हृदय उन कुकर्मियों और अपराधियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रहा है। उसकी अधिकांश कृतियों में इन समस्याओं पर विवरणात्मक वर्णन मिलता है। और उसने इस सम्बन्ध में अनेक सुझाव एवं व्यावहारिक सुधारों को सव्याख्या वर्णित किया है जिसमें से उसकी प्रसिद्ध पैनाप्टिकन (panoptican) प्रणाली भी है। इन समस्त प्रणालियों के माध्यम से वह उनकी स्थिति में सुधार उत्पन्न करके उन्हें सत्चरित्र वाले श्रमजीवियों की श्रेणी में प्रस्तुत करना चाहता था ताकि वे अपने व्यक्तित्व को समग्र बनाकर अच्छे नागरिकों के रूप में आचरण कर सकें।

दण्ड (Punishment) के प्रति उचित दृष्टिकोण विकसित करने और उसके वर्गीकरण करने में कई बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। सर्वप्रथम तो यह कि अपराध की मूल प्रकृति किस प्रकार की है? इस पर ध्यान देना आवश्यक है। क्या अपराध की मूल-प्रकृति जघन्य है अथवा अपेक्षाकृत हल्की और मामूली। अर्थात् अपराध विशेष से कुछ लोगों को हानि पहुँची है या बहुतों को हानि पहुँची है। उसका आघात जीवन के प्रमुख हितों पर हुआ है अथवा वह केवल मामूली हितों को ही आघात पहुँचाता है। क्या अपराधी को दण्ड न देने से दूसरों को इस प्रकार के अपराध करने की उत्तेजना हो सकती है? अस्तु, इससे सम्बन्धित जिस दूसरी बात पर ध्यान देना आवश्यक है वह यह है कि अपराध किन परिस्थितियों में किया गया क्योंकि इन परिस्थितियों का बहुत महत्व होता है। क्या अपराध किसी विशेष उत्तेजना में किया गया था अथवा वह जान-बूझ कर नृशंस रूप में आक्रमणकारी योजनाओं के अन्तर्गत (Cold Blood) किया गया है? अपराधी का पिछला आचरण कैसा रहा है? उसके माता-पिता (parentage) कौन हैं और कैसे हैं? उसकी शारीरिक अवस्था (physical environment) और सामाजिक स्थितियाँ (social upbringing) कैसी हैं? यद्यपि यह समस्त बातें केवल व्याख्यात्मक प्रकृति की लगती हैं किन्तु इनका एक

निश्चित महत्व है। इसलिए इनको भी ध्यान में रखना चाहिए। अस्तु, कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृतियों पर ध्यान देना आवश्यक है। क्या कोई अपराध केवल स्वार्थवश (selfish act) किया गया है अथवा उसके पीछे किसी दूसरे की संकटग्रस्त स्थिति द्वारा परिचालित सहानुभूत्यात्मक सम्वेदना है अर्थात् ऐसी भी स्थिति हो सकती है जब मनुष्य अपने भूख से मरते बच्चे को बचाने के लिए चोरी करता है, किन्तु बात यहीं नहीं समाप्त होती। इसी से सम्बद्ध यह प्रश्न भी उठता है कि वह व्यक्ति कैसा था जिसे अपराधी ने कष्ट पहुँचाया है। क्या वह दुर्बल और असहाय (infirm) व्यक्ति था (जैसे बच्चा, बूढ़ा या अपाहिज) अथवा वह एक स्वस्थ और सशक्त व्यक्ति था जिसे अपराधी ने चोट पहुँचाई थी ? वह भुक्तभोगी पुरुष था या स्त्री थी ? उसे सीधा धमकाया गया (directly offending) या व्यक्तिगत आघात (personally offensive) पहुँचाया गया ? यह सब बातें और इसी प्रकार की अन्य बातों पर भी विचार करना और उन्हें तोलना होगा। यदि अपराधी और समुदाय दोनों के प्रति न्याय करना है तो दोनों के हितों को भी ध्यान में रखना होगा। दण्ड के संदर्भ में बेन्थम विधायकों (Legislators) और न्याय के प्रशासकों (Administrators) दोनों से असन्तुष्ट था। विधायकों (Legislators) से वह इसलिए असन्तुष्ट था क्योंकि वे कानून के अनुसार अपराधी का वर्गीकरण नहीं करते थे। ऐसा न कर सकने के कई कारण हैं जिनमें से मुख्य कारण यह है कि जो देश के लिए कानून बनाते हैं वह स्वतः समाज के ऊँचे वर्ग एवं सम्पन्न श्रेणी के लोग होते हैं। इसीलिए वे जो भी दण्ड अभियोगी के लिए निर्धारित करते हैं उसे अपने वर्ग के मानदण्ड से आँक कर यह देखते हैं कि वह उनके जैसे लोगों पर क्या प्रभाव डालेगा। इसका समुचित उदाहरण तो उस समय मिलता है जब स्वयं बेन्थम के काल में विधायकों ने मृत्युदण्ड (Death punishment) की तुलना में आजीवन श्रमसाध्य कारावास (Imprisonment for life with hard labour) का कानून पारित करना चाहा था। इसमें सन्देह नहीं

कि प्राणदण्ड उन लोगों के लिए जो समाज के सम्पन्न वर्ग में जन्मे हैं और उत्साहपूर्ण, उन्नतिशील जीवन व्यतीत करते हैं; बहुत भयंकर लग सकता है और वे फाँसी के तख्ते पर अपने परिवार के अथवा वर्ग के लोगों को देख कर लज्जा और अपमान अनुभव कर सकते हैं। किंतु इसके विपरीत एक साधारण अपराधी जो उत्तेजनापूर्ण आक्रमणकारी और उद्दण्ड जीवन व्यतीत करता है, उसके लिए जीवन का मूल्य कुछ नहीं होता। इसीलिए वह कभी भी मृत्यु से भयभीत नहीं होता और न उसे भाग्य के घटना-चक्रों से कोई लज्जा (sense of shame) या आत्मग्लानि की भावना ही प्रभावित करती है। अस्तु, इसके विपरीत जब ऐसा अपराधी अनवरत रूप से कारावास में ऐसे श्रमसाध्य (hard labour) जीवन की कल्पना करता है जिसे वह बराबर घृणा करता आया है तो निश्चय ही उसके हृदय में एक आतंक और भय की भावना उसे रोकती है और उसे कुकर्मों की ओर जाने से बचाती है।

इसी प्रकार न्यायाधीशों के प्रति उसका जो विशेष आरोप था वह यह कि प्रत्येक न्यायाधीश अपनी कठहुज्जती (Quirks) अथवा सर्वथा भिन्न आधारों पर प्रत्येक कानून के उद्देश्य को नष्ट कर देता है। इसीलिए बेंथम ने न्यायाधीशों पर बड़े कटुकटाक्ष किये हैं। वस्तुतः यह आरोप निस्सन्देह रूप से उस समय बड़े सही और ठीक थे। किन्तु (बेंथम की कटु आलोचना द्वारा ही काफी सीमा तक) आज उन आरोपों में कोई दम नहीं है।

दण्ड (Punishment) का उद्देश्य प्रत्येक स्थिति में अपराध के प्रति भय और रोक (deter) उत्पन्न करना है अर्थात् अपराध का मुख्य कार्य यह है कि वह अभियोगी को दण्डित देख कर अपराध करने से बचने की प्रेरणा दे और भयभीत हो। बेंथन की दृष्टि से न्याय का कार्य प्रदर्शन जहाँ तक सम्भव हो, जनता के समक्ष होना चाहिए; ताकि ऐसे अपराधी जो अपराध के लिए उद्यत हों उनके सामने यह प्रमाण रहे कि न्याय सीमा तक दण्ड देता है; उस सीमा तक वह निर्धारित दण्ड को कार्यान्वित भी करता है। इस प्रदर्शन से उनमें स्वयं एक प्रकार का

नियन्त्रण उत्पन्न होगा। यही कारण था कि बेंथम कालापानी (punishment to Botany Bay) की सजा अथवा देश निष्कासन की सजा का घोर विरोधी था। वह कहता था कि इस प्रकार के दण्ड से अपराधियों का वह वर्ग जो अपराध की ओर उन्मुख होते हैं उन्हें शिक्षा ग्रहण करने का न तो अवसर दे पाते हैं और न वे इस प्रकार के दण्डों से प्रभावित ही होते हैं। इसके विपरीत यह भी सम्भव हो सकता है कि नये अपराधिओं की कल्पनाएँ नये देश के कारावास और निष्कासन को अपने देश से अच्छा समझें और उसके प्रति एक प्रकार की नैसर्गिक भावना उत्पन्न कर ले और उस वाह्य देश के नये जीवन से डरने के बजाय उसके प्रति मोह उत्पन्न कर लें। इसी विचार से प्रेरित होकर शायद बेंथम के काल में सार्वजनिक स्थानों पर जनता के सम्मुख फाँसी (Gallows) की सजाएँ दी जाती थी।

यदि दण्ड का उद्देश्य वास्तव में उत्साहहीनता उत्पन्न करना है, तो इसका रूप निश्चित और प्रयोग बिना किसी भेद-भाव के होना चाहिए। यदि अपराधी को एक विशेष न्याय मण्डल (Penal Servitude) ने एक निश्चित अपराध के लिए दण्ड दिया है, किंतु दूसरे न्याय मण्डल ने दूसरे स्थान पर ठीक वही अपराध करने वाले व्यक्ति को बिना दण्ड दिये छोड़ दिया है, तो निश्चय ही यह सब कानून के प्रभाव को नष्ट करते हैं। समाज का एक विशेष वर्ग राजकीय मामलों में इस प्रकार के अनेक अपराध करने का साहस करेगा और यदि उन्हें बचत की धुँधली झलक भी अनुभव होगी तो वह ठीक उसी तरह से अपराध करेंगे, जैसे बहुत से अपराध देश में छानबीन के अभाव में होते रहते हैं। यदि कानून द्वारा रोक (Deterrence) का भाव पैदा करना है तो निश्चय ही न्याय के आचरण में एक निश्चित एकता और अनिवार्यता का होना आवश्यक है।

ठीक उपर्युक्त कारणों के आधार पर अपराधियों को क्षमादान की परम्परा या कानून द्वारा निश्चित दण्ड को कम करने या घटाने की परम्परा को समाप्त कर देना चाहिए। प्रत्येक कानून द्वारा दिया गया

दण्ड या तो पर्याप्त होता है अथवा वह पर्याप्त नहीं होता। यदि अपराध पर्याप्त और उचित है तो उसका (दया के रूप में ही क्षमाकरण) (Penal Servitude) घोर अन्याय करना होगा और इससे दण्ड की रोक (Deterrent) की भावना को क्षति पहुँचेगी। यदि दिया गया दण्ड पर्याप्त नहीं है तो उसे पर्याप्त बनाने की चेष्टा करनी चाहिए ताकि समाज की व्यवस्था सुरक्षित रह सके। दण्ड के लागू करने में न्याय करने वाले व्यक्ति की इच्छा• शक्ति कर कुछ भी नहीं छोड़ना चाहिए। इससे यह बा स्पष्ट हो जाती है कि अपराधी व्यक्ति से सम्बन्धित सुधार के विषय पर विचार करते समय दण्ड को वर्षों की अवधि में विभाजित करना चाहिए। यदि दी गई अवधि से कम समय में ही दण्ड का उद्देश्य पूर्ण हो जाता हो तो उपर्युक्त सुधारों से जितनी जल्दी अपराधी को मुक्ति मिल सके, उतना ही अच्छा है क्योंकि उतनी अवधि तक दण्ड भोग लेने के बाद यह माना जा सकता है कि वह व्यक्ति सुधर गया होगा और अपने सुधरे हुए चरित्र के आधार पर समुदाय के हित और कल्याण के कार्य कर सकेगा। उपर्युक्त स्थिति को बेन्थम सैद्धांतिक रूप से उस सीमा तक सत्य मानता था, जिस सीमा तक कि निर्धारित दण्ड किए गये अपराध से मात्रा में बहुत अधिक हो गया था। इसीलिए उपर्युक्त परिस्थितियों में यद्यपि अपराधों की कमी करने से रोक (Deterrent) के भाव में शिथिलता आ सकती है, फिर भी समाज के व्यापक हित के लिए अपराधियों के प्रति मानवतावादी व्यवहार आचरित करने के लिए बिना न्याय की पवित्रता को खण्डित किये उनमें सुधार लाने की भावना से और उनको समुदाय के प्रति अपराधी बनाने की अपेक्षा अच्छे और शुद्ध नागरिक बनाने के लिए दण्ड में कमी करना भी असंगत नहीं कहा जा सकता। दण्ड सम्बन्धी बेन्थम के विचारों के साथ-साथ हमें उसकी जेल सम्बन्धी व्यवस्था के प्रति भी विचार करना आवश्यक है। उस काल में कारावास अनेक प्रकार के अपराधों के बदले में आज से कहीं अधिक दण्डित वस्तु मानी जाती थी और इसी नाते कैदियों के प्रति बड़ा ही क्रूर और और अमा-

नुषिक व्यवहार भी किया जाता था। कारावास अपनी तंग कोठरियों और गन्दे तहखानों से युक्त ऐसा स्थान था जो निश्चय ही सभ्यता के ऊपर कलंक-सा दीखता था। और यही नहीं जिस प्रकार से कारावासियों को भोजन और रहने-सहने की असुविधा दी जाती थी, वह बड़ा ही भयानक था। विशेषतया इस बात की कोई भी चेष्टा नहीं की जाती थी कि भयंकर अपराधियों को दूसरे अपराधियों से पृथक् रखा जाय अथवा अपराधों के आधार पर उनको सुविधा, असुविधा प्रदान की जाय। इसका दुष्परिणाम यह था कि प्रत्येक अपराधी एक दूसरे के सम्पर्क में आकर बड़ा अपराधी बन जाता था और इस प्रकार विषमताओं का प्रचार तीव्र गति से चलता था। वस्तुतः जेल जहाँ पर बाल अपराधी भी पेशेवर क्रूर अपराधियों के साथ रहते थे, वास्तव में ऐसे लगते थे कि वे बुराइयों और अपराधों के शिक्षा-केन्द्र हैं। इसमें सन्देह नहीं कि होवर्ड (Howard) जो इस समय के जेलों में सुधार करना चाहता था, उसके साथ बेंथम की पूर्ण सहानुभूति थी। इस दिशा में उसका व्यवहार योग उसकी पेनाप्टिकन (panoptican) योजना के रूप में प्रस्तुत हुई थी; जिसका वर्णन करते हुए उसने ब्रूसाट (Brissot) के पत्र में लिखा था कि यह योजना उस मिल के समान होगी जिसमें से गुण्डों को ईमानदार और काहिलों को श्रमसाध्य बनाया जायगा। वास्तव में उसका वह प्रयास एक मानवतावादी भावना से हीन अपराधियों को पश्चातावात्मक सुधार के लिए प्रोत्साहित करता था। इस उद्‌भावना में निर्धनों को भी शरण देने की शक्ति थी। इस आन्दोलन का रूप एक नये प्रकार की इमारत—जिसका कि प्रारूप उसके भाई सर सैमुएल बेंथम ने बनाया था और जिसके आधार पर रूस में उसे बड़ी ख्याति मिली थी—की योजना से प्रारम्भ होता था। इस इमारत की योजनानुसार अपराधियों के रहने की सुचारु रूप से व्यवस्था थी। उनकी निरीक्षा की भी एक योजना थी और उनको ऐसे कार्य करने की सुविधा भी थी जिसमें उनको रुचि भी मिले और वह उत्पादन भी कर सकें। इस समस्त योजना को अपने ग्रीक-ज्ञान से प्रभावित होने के कारण

पैनाप्टिकन (panoptican) की संज्ञा से व्यक्त करता था। इसका भावार्थ यह है कि प्रशासक (Governor) का निवास स्थान ऐसे केन्द्रीय स्थान पर हो, जहाँ से वह सरलता के साथ उन समस्त कारा-वासियों के कमरों का निरीक्षण और उनके कार्य-व्यापार को देख सके और निरीक्षण कर सके। कैदियों में अनुशासन और उनकी रखवाली दोनों आवश्यक वस्तुएँ हैं। किन्तु इस योजना के अनुसार इन दोनों का व्यवहार सहानुभूत्यात्मक संवेदनाओं द्वारा वातावरण में विकास उत्पन्न करके सम्भव माना गया था। अपराधियों को कार्य करने की शिक्षा देने की योजना थी और मात्र आज्ञानुसार काम करने अथवा दण्ड के भय से काम करने की अपेक्षा स्नेह और हित की भावना से कार्य में रुचि पैदा करने की चेष्टा की गई थी। उनको अच्छे व्यवसाय की शिक्षा देने की योजना प्रस्तुत की गई थी; ताकि वे स्वयं लाभजनक कार्य कर सकें और प्राप्त लाभ के भागी हो सकें। अस्तु, वह काम करने में रुचि पैदा करके एवं श्रम करने की आदत लेके कारावास से छूटें ताकि उसके बाद वह संसार की समस्याओं का सामना कुशलता के साथ कर सकें। इस योजना में कारावासियों को अवकाश के समय में प्रारम्भिक शिक्षा देने की बात उठाई गई थी। नैतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में भी उनकी रुचि को प्रोत्साहित करने की योजना थी, ताकि वह अपने को ऊपर उठा सकें और अपने में सुधार कर सकें। इनके सामने कई आदर्श उपस्थित करके रुचि के अनुसार उनको आचरित करने की भी बात उसमें थी। एकान्त कारावास के सम्बन्ध में बेंथम कहता है कि "मस्तिष्क को शून्य रख कर मानसिक विकास की बात सोचना विचित्र है। मस्तिष्क में कुछ न कुछ भरने की बात है। उसे खाली छोड़ देने से कुछ नहीं होगा इसीलिए, मैंने (panoptican) मस्तिष्क को कार्यशील बनाने की चेष्टा की है।" इस योजना में जितने भी सुझाव दिये गये हैं उनमें अधिक से अधिक व्यावहारिक सम्भावना भी प्रस्तुत किया गया है कि इनके आधार पर प्रस्तुत किये गये सुझाव स्थायी रूप वाले हो सकें। यहीं नहीं कारावास से छूटने के बाद फौरन ही अपराधियों को

नौकरी देने की योजना विशेषकर उस समय तक जब तक कि वह अपने सद्व्यवहार और आचरण से जनता का विश्वास नहीं प्राप्त कर लेते--- बड़ी दृढ़ता के साथ प्रस्तुत की गई है। यह महान और उदार योजना बेन्थम की दयार्द्र प्रकृति के अनुकूल थी। इस संबन्ध में वह इतना भावुक था कि वह इस प्रकार की कारावास-व्यवस्था का अवैतनिक प्रथम प्रशासक (Governor) होने के लिए भी तैयार था। किन्तु, यह निश्चित था कि उसकी यह योजना कार्यान्वित नहीं होगी। इसके कारण बेंथम को वर्षों तक अथक परिश्रम, चिन्ता, उद्विग्नता और निराशा रही। उसने इस संबन्ध में काफी दिनों तक लगातार देश के राजनैतिक और प्रभावशाली संसद-सदस्यों के विचारों को परिवर्तित करके उनकी सहानुभूति ग्रहण करने की चेष्टा की। इस सम्बन्ध में उसे बहुत पैसा भी व्यय करना पड़ा, क्योंकि कुछ सत्राधिकारियों ने जब उसे विशेष रूप से प्रोत्साहित किया तो उसने अपनी योजनानुसार जेल बनवाने के लिए एक निश्चित जमीन भी खरीद ली और उस पर काफी पैसा भी खर्च किया। जब यह योजना विफल हो गई और वह भयानक रूप में हतोत्साहित हो गया तो पार्लियामेंट ने उसे तेइस हजार पाउंड की रकम वापस कर दी। इस योजना के खंडित होने का एकमात्र कारण यह था कि बेंथम स्वयं जार्ज तृतीय का कट्टर विरोधी था और यह शत्रुता सम्राट की डेनमार्क सम्बन्धी नीति से पैदा हुई थी, जिसे उसने ऐंटी-मैकियाविल् (Anti-Machiavel) के छद्मनाम से लिखे गये पत्रों में की थी।

यद्यपि बेंथम को अपनी इस योजना में प्रत्यक्ष असफलता मिली थी, फिर भी उसकी इस योजना का बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। उसने ग्रेट ब्रिटेन ही नहीं, अन्य देशों का भी ध्यान इस दिशा की ओर आकर्षित किया और आंशिक रूप में इनको व्यवहार रूप में आचरित करने की प्रेरणा भी दी। स्वयं ग्रेट-ब्रिटेन में भी, जो सुधार कारावासों में और मानववादी रूप में हुए हैं, वे बेंथम के काल से ही प्रारम्भ होते हैं। सुधार-सम्बन्धी संस्थाएँ (Institution of Reforma-

tories) और व्यावसायिक स्कूल (Industrial Schools) की प्रेरणा बेंथम से ही मिली है और उन्हीं सिद्धान्तों पर उनकी स्थापना भी हुई है।

जिस सद्भावना के साथ बेंथम ने पेनाप्टिकन योजना बनायी थी, उसमें मनुष्य द्वारा कठिन परिश्रम (hard labour) के नाम और व्यापार दोनों की आलोचना की थी। नाम के सम्बन्ध में वह कहता है—"जिस प्रकार से श्रम, जो कि जनसंख्या और धन की धात्री है, उसको बुरा नाम दिया गया है, और जिस प्रकार श्रम के नाम से अपराधियों को डराया जाता है वह निश्चय ही ऐसा है कि मैं किसी भी स्थिति में उस भाव का साथ नहीं दे सकता। श्रम को इस प्रकार कठिन और कुविख्यात करने से मुझे कोई लाभ नहीं दीखता। मैं तो यह समझता हूँ कि मनुष्य को श्रम के प्रति स्नेह विकसित करने की शिक्षा देनी चाहिये न कि उसे उससे भयभीत होना सिखाना चाहिये। अपराधियों के श्रम को उनका व्यवसाय बता कर उसके प्रति उनकी सहानुभूत्यात्मक दृष्टि जहाँ तक सम्भव हो, विकसित करना चाहिये। जबर्दस्ती लादी हुई काहिली से यह श्रम कहीं मधुर है और इसके द्वारा उत्पादित वस्तु दोहरी रक्षा देगी। श्रम एक प्रकार का आशीर्वाद है, इसे अभिशाप कह कर क्यों चित्रित किया जाता है।" और तब वह यह कहता है कि—"और फिर कठिन श्रम ? साधारण जीवन के श्रम से कहीं कठिन जेल का श्रम क्यों हो ? यही नहीं कि जेल में कठिन परिश्रम का कोई स्थान नहीं है, वरन्, वास्तविकता यह है कि जेल ही ऐसा स्थान है जहाँ कठिन परिश्रम नहीं लागू होना चाहिये। क्या कठिन परिश्रम का आशय थकाना है ? हिंसात्मक रूप से थकाना ? यह उपहार भले हो सकती है, दण्ड नहीं हो सकता। यदि तुम्हारा अर्थ उपर्युक्त है तो तुम्हें कहीं अन्यत्र इसकी खोज करनी चाहिए। बेगार और गुलामी यदि इस जाति में इसी प्रकार रही तो स्वाधीनता और प्रोत्साहन को कभी भी प्रश्रय नहीं मिलेगा। और जितना ही कठोर आधार होगा उतनी ही अधिक असमानता बढ़ेगी। किसी भी प्रकार, किस उद्भावना

के आधार पर किसी भी कोयला खोदने वाले से यह कैसे आशा की जा सकती है कि जेल में आकर वह जेल के बाहर की अपेक्षा अधिक परिश्रम कर सकेगा। वह कौन सी अनिवार्यता है जो किसी भी बोझ उठाने वाले को उससे ज़्यादा बोझ उठाने के लिए मज़बूर कर सकती है जो वह प्रसन्नतापूर्वक आधे क्राउन में उठाया करता था? वह इसी में घुटघुट कर मर जायगा और उसकी घुटन का पता लगाना कठिन होगा। वह शायद मानसिक वेदना से छुट जायगा, क्योंकि मानसिक अवस्थाओं पर शरीर का बहुत कुछ आधार होता है। किसी भी मनुष्य को छ-दिन में चार सौ मील चलने के लिए कैसे धमकाया व मजबूर किया जा सकता है? इसलिए मनुष्य द्वारा कठिन परिश्रम (hard-labour) के प्रति अपनी भावुकता को त्याग दो और अपनी बुद्धि को उन स्वस्थ दिशाओं में प्रयुक्त करो जो हर उस वस्तु के साथ सम्बन्धित हो सके, जो उत्पादन शक्ति (productive) रखती हैं।"

यह शब्द विद्वतापूर्ण है और व्यवहार में इनकी सीमाएँ काफी दूर तक पहुँचती हैं।

अध्याय ६

जेम्स मिल

[उसकी जीवनी, मनोवैज्ञानिक स्थिति और शिक्षा सम्बन्धित विचार

बेंथम के समस्त शिष्यों में से जेम्स मिल सबसे अधिक योग्य, श्रम-साध्य एवम् अपने सिद्धांतों में दृढ़ आस्था रखने वाला व्यक्ति था। वह स्वयं साधारण जन-जीवन के वर्ग से विकसित हुआ था और वह साधारण जनता को और उनकी समस्याओं को बहुत ही सहानुभूत्यात्मक दृष्टि से जानता व समझता था। वह राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं पर अपनी स्काटिश प्रकृति के अनुरूप विशेष रुचि रखता था। अपनी मनोवैज्ञानिक आत्म-अनुभूति और सम्पर्कवादी विचारधारा के अनुसार तथा उपयोगितावाद के लक्ष्य को अधिक सुचारु रूप से जानने-समझने के नाते वह बेंथम के विचारों को एक नया मोड़ दे सका था।

१. उसका जीवन—जेम्स मिल ६ अप्रैल सन् १७७३ ई० को स्काटलैण्ड नार्थ वाटल ब्रिज के निकट नार्थ यस्क नदी के तट पर स्थित फारफरशायर (Forfarshire) नाम के एक छोटे से गाँव में जन्मा था और २३ जून सन् १८३६ ई० को उसकी मृत्यु हुई थी। उसका पिता (जिसका भी नाम जेम्स था) मोची था। उसकी माँ ईजाबेल फेन्टन (Isabel-Fenton) एक साधारण किसान की लड़की थी। लागीपर्ट (Logie-Pert) और मान्ट्रोस एकेडमी (Montrose-Academy), जहाँ जोजफ ह्यूम (Joseph-Hume) उसका सहपाठी था, उसने आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की थी। सन् १७९० ई० में विशेष अध्ययन

के लिए वह एडिनबरा विश्वविद्यालय में भर्ती हुआ और चार साल की शिक्षा के बाद M. A की डिग्री लेकर निकला। विश्वविद्यालय से निकलने के बाद वह धार्मिक अध्ययन में लग गया और १७९८ ई० में वह स्काटलैण्ड के चर्च का उपदेशक नियुक्त हो गया। इस सेवा काल में उसका कोई विशेष उल्लेखनीय कार्य नहीं है और न उसके उपदेश से सम्बन्धित प्रतिभा का हमें कोई विशेष परिचय मिलता है। हाँ विभिन्न परिवारों में इतिहास, राजनीति और दर्शन के विषयों का ट्यूशन भी इसने इसी काल में किये थे। उसके संरक्षकों में से सबसे पुराने फेटर-केअर्न के निवासी सर जान स्टुअर्ट थे, जिन्होंने अपनी इकलौती लड़की के शिक्षक के रूप में जेम्स मिल को अपने यहाँ नौकर रखा था। १८०२ ई० में जब सर जान किनकारडीनशायर के क्षेत्र से संसद के सदस्य चुन लिए गये तो जेम्स मिल भी लन्दन आया। और यहीं से उसकी साहित्यिक यात्रा प्रारम्भ होती है। १८०३ ई० में लिटरेरी जरनल नामक पत्रिका के प्रकाशित एवम् स्थापित करने में जेम्स मिल का विशेष योग रहा है। कुछ समय तक उसने इस पत्रिका का सम्पादन कार्य भी किया था और समय-समय पर वह उसमें अपने लेख भी प्रकाशित करता रहता था। किंतु उसके राजनैतिक अर्थशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का परिचय हमें तब मिलता है जब जेम्स मिल ने १८०४ ई० में कार्नट्रेड नामक पत्र प्रकाशित किया। १८०५ ई० में उसने हैरियेट वरो (Harriet Burrow) नाम की महिला से विवाह किया। १८०६ ई० से लेकर १८०७ ई० तक का समय उसने भारतवर्ष का इतिहास लिखने में व्यतीत किया। इस काल में बीच-बीच में उसके लेख ऐडिनबरा रिव्यू (Edinburgh Review), ऐनुएल रिव्यू (Annual Review), फिलैनथ्रोपिस्ट (Philanthropist) नामक अखबारों में निकलते रहते थे। इसी काल में उसने इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (Encyclopaedia Britannica) के पाँचवें संस्करण के परिशिष्ट में (Government) न्याय संहिता, अंतर्राष्ट्रीय कानून और शिक्षा सम्बंधी विषयों पर विद्वतापूर्ण लेख लिखे। १८१८ ई० में जब उसकी History of India नामक पुस्तक

प्रकाशित हुई तो उसने उसकी प्रतिष्ठा और उसका मान सहसा बहुत ऊपर उठा दिया। यही कारण था कि उसे शीघ्र ही India House में एक विशेष पद पर नियुक्ति मिली और उसके आधार पर भारत सम्बन्धित पत्र-व्यवहार परीक्षक (Examiner of India Correspondence) के पद पर वह कार्य करने लगा। १८३० ई० में वह इस विभाग का प्रधान नियुक्त हो गया। पहले तीन साल तक वह बेन्थम द्वारा संचालित वेस्ट मिनिस्टर रिव्यू (West Minister Review) का स्थायी लेखक रहा। फिर १८३४ ई० में जब सर विलियम मोल्सवर्थ (Sir William Molesworth) ने लन्दन रिव्यू नाम की पत्रिका का संचालन किया तो वह उसमें भी अपने लेख देने लगा। १८२९ ई० में उसने Analysis of Phenomenon of the Human Mind नाम की पुस्तक प्रकाशित की। मरने के एक वर्ष पूर्व अर्थात् १८३५ ई० में उसकी दूसरी पुस्तक फ्रेगमेन्ट आन माकिनटाश (Frag ment on Mackin tosh) प्रकाशित हुई। २३ जून सन् १८३६ को फेफड़े में विशेष खराबी आ जाने के कारण लन्दन के केनसिगटन नामक क्षेत्र में उसकी मृत्यु हुई। उसका जीवन बड़ा ही श्रमसाध्य था। उसके स्वास्थ्य के सहसा विकृत होने और टूटने का एक मुख्य कारण उसका अथक परिश्रम था।

कई वर्षों तक १८०८ ई० के बाद से बेंथम और मिल का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। अपने जीवन के अन्त तक वह बेंथम का बड़ा ही भक्त अनुयायी था। यही नहीं लगभग चार साल तक (१८१४ से १८१७ तक) मिल अपने परिवार के साथ बेंथम के निवास स्थान फोर्ड ऐबी में भी रहा किंतु दोनों के साथ रहने से और लगातार वाद-विवाद होते रहने से उन दोनों को विशेष कष्ट और असुविधा होने लगी। अस्तु मिल के आग्रह पर दोनों अलग-अलग रहने लगे किंतु दोनों के गुरु और शिष्यगत सम्बन्ध बहुत ही मधुर और सुन्दर थे। बौद्धिकता में यद्यपि मिल और बेन्थम दोनों महान थे, फिर भी दोनों के चरित्र और प्रकृति में बहुत अन्तर था। बेन्थम का स्वभाव मूलतः

सहानुभूत्यात्मक और मिलनसार था। मिल का चरित्र कठोर और अहंकारपूर्ण था। इसलिए बेन्थम मिल को "यह स्वतः एक पात्र है" (He is a character) की संज्ञा से सम्बोधित किया करता था। मिल के विषय में उल्लेख करते हुए बेन्थम ने लिखा है, "वह (मिल) अपने दृढ़ और सशक्त स्वरों से दूसरों की बात दबा देना चाहता है और अपनी सार्थकता हर व्यक्ति पर सिद्ध कर देना चाहता है। उसकी भाषण शैली में दूसरों की बात दबाने और अपनी बात उभार कर प्रस्तुत करने की विशेषता है।" यही नहीं मिल के विषय में लिखते हुए बेन्थम ने यह भी कहा था की मिल की राजनैतिक धारणा "बहुजन हिताय" से न प्रेरित होकर तीखी घृणा से उत्तेजित और विकसित हुई है। यदि यह कथन सत्य है तो यह एक बहुत बड़ा आरोप है। यह मात्र यही नहीं सिद्ध करता कि मिल मानसिक स्तर पर हृदय की अपेक्षा अधिक विश्वास रखता था, वरन् इससे यह भी सिद्ध होता है कि चारित्रिक स्तर पर मिल एक ऐसा निम्न कोटि का व्यक्ति था जो उदात्त भावनाओं से न प्रेरित होकर असामाजिक एवं स्वार्थपूर्ण भावनाओं से प्रभावित होता था। यह निष्कर्ष यद्यपि संशोधन योग्य है और इसका संशोधन होना भी चाहिये किन्तु यह बात तो सत्य ही है कि मिल की प्रकृति कठोर थी। उसमें रागात्मकता कम थी तथ्यात्मकता अधिक थी। इस बात का समर्थन स्वयं उसके पुत्र जान स्टुअर्ट ने इन शब्दों में किया है, "किसी भी वस्तु के भावनात्मक एवं रागात्मक आवेग के विस्फोट अथवा उसके समर्थन में प्रस्तुत किये गये तर्क-वितर्क को, वह बड़ी घृणा की दृष्टि से देखता था और उन्हें पागलपन की संज्ञा से सम्बोधित किया करता था। ऐसे कार्यों को वह तनाव युक्त (The Intense) स्थिति कहकर घृणास्पद रूप में ग्रहण किया करता था।" यहाँ तक कि जार्ज ग्रोट (George Grote) जैसा उसका मित्र भी इस बात का समर्थन करता है कि वह अपने बातचीत में बड़े ही ओजपूर्ण दबाव की शैली का प्रयोग

करता था। और तो और स्वयं उसका पुत्र जान स्टुअर्ट मिल भी उसके विषय में यही धारणा रखता था।

२. मनोविज्ञान—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बेन्थम का दर्शन बहुत दुर्बल था। इसका कारण यह नहीं था कि वह मानसिक स्थितियों और आचरण के मूल प्राकृतिक श्रोतों का विवेचन करने में अयोग्य था वरन् उसके दुर्बल होने के सर्वथा विरोधी कारण हैं। वास्तव में उसकी अभि-रुचि और उसका दृष्टिकोण बहुत सीमित थे। उसकी सन्यास (hermit life) के प्रति विशेष रुचि थी और वह सन्यासियों के जीवन का समर्थक था। इसीलिए वह अपने दृष्टिकोण में इतना संकीर्ण हो गया था कि मूल मानव प्रकृति की वृहद और व्यापक जटिलताओं को ग्रहण करने में असफल हो जाता था। मिल का विशेष योग उपयोगितावाद के मनोवैज्ञानिक पक्ष की पूर्ति में व्यक्त हुआ है। एनैलेसिस आफ फेनामेना आफ दी ह्यूमेन माइन्ड (Analysis of the Phenomena of the Human Mind) नाम की पुस्तक में उसने इस तर्क की पूर्त्ति असफलता के साथ की है। यह पुस्तक मानसिक स्थितियों के ज्ञान सम्बन्धी अध्ययन को एक ऐतिहासिक मोड़ देती है। इसकी कमियों की पूर्त्ति मिल की दूसरी पुस्तक फ्रैगमेन्ट आन मैकिनटाश (Fragment on Mackintosh) द्वारा हुई है जिसमें उसने आलोचनात्मक शैली में अपनी विचार-पद्धति की व्याख्या प्रस्तुत की है।

मिल की शिक्षा ऐडिनबरा विश्वविद्यालय में हुई थी। यहाँ वह ड्यूगल्ड स्टीवर्ट (Dugald Stewart) नाम के विद्वान के संसर्ग में आया था। इसके कारण वह स्काटिश दर्शन से विशेष प्रभावित हुआ था। स्टीवर्ट जैसे सुसंस्कृत और सभ्य शिक्षक के विषय में मिल ने बड़े प्रशंसात्मक शब्दों में अपने जीवन के अन्त तक प्रशंसा की है। उसका अपना मनोवैज्ञानिक अध्ययन स्काटिश प्रभावों से ओत-प्रोत है। इस पद्धति में मनोविज्ञान को अनुभूति और साधारण चेतना स्तर (Common Sense) की दृष्टि से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

यही कारण है कि स्काटिश सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक टामस रीड के निष्कर्षों के आधार पर मिल ने भी अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन सबका सारांश यह है कि मिल का मनोवैज्ञानिक अध्ययन विवेचनात्मक और वर्णनात्मक अधिक है। उसने मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं के आधार पर अनुभूति की परिक्रियाओं, मानसिक प्रवृतियों की रूढ़िगत प्रकृति पर विशेष बल, दिया है। यही नहीं चेतना के कार्य व्यापार की विधि और नियमों का अनुसरण करते हुए उसने इसी पर विशेष आग्रह किया गया है। इन आग्रहों से ही उन सिद्धान्तों को निर्धारित किया गया है जो तथ्यों पर आग्रहशील न होकर एक पूर्वनिश्चित सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। इस दुहरी स्पष्टता और विचारों की प्रांजलता में मिल की अभिव्यक्ति को बहुत ही स्पष्टता प्रदान की है। बेन्थम की भाँति मिल ने भी यह अनुभव किया था कि मानसिक अन्धकार के कारण ही बहुत से भ्रम फैलते हैं। इसलिए मानसिक सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि वे धारणायें जो धुँधली और अस्पष्ट हैं उनकी परिभाषा ठीक और सही तरीके से उसी भाँति की जाय जिस भाँति की सुकरात ने की थी। मिल के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की प्रमुख विशेषता यह है कि वह हर वस्तु को एक निश्चित परिभाषा देने की चेष्टा करता है और विभिन्न मनोवैज्ञानिक शब्दावलियों के अर्थ भेद को स्पष्ट रूप में व्यक्त करने का प्रयास किया है। इस प्रकार उसने मनोविज्ञान को प्रचलित अवैज्ञानिक और भ्रमपूर्ण धारणाओं से मुक्त करने का प्रयास किया है। यही नहीं उसने बहुत से मनोवैज्ञानिक शब्दों के अनियन्त्रित प्रयोगों के मनमाने व्यवहार का विरोध भी किया है। उसने दार्शनिक धारणाओं और उसके पक्ष को बहुत ही सशक्त रूप से प्रस्तुत करने की चेष्टा एवम् शक्ति का परिचय दिया है। इसका प्रमाण हमें उसकी फ्रैगमेन्ट आन माकिनटाश (Fragment on Mackintosh) नामक पुस्तक से मिलता है।

मनोविज्ञान का प्रयोग– मिल ने बड़े व्यापक संदर्भ में किया है। इसलिए हमें इस दृष्टि से भी उसको जान लेना आवश्यक है। यदि

हम इस प्रकार के संगत प्रश्नों के माध्यम से अध्ययन करें तो निम्न लिखित धारणाएँ स्पष्ट हो जायँगी अर्थात् मिल द्वारा कौन से मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग हुआ है? सम्पर्क (Association) के प्रति उसकी क्या धारणा है? उसकी विचार-पद्धति में सुख-दुःख का क्या स्थान है? अन्तिम प्रश्न के अध्ययन में ही हमें मिल के नैतिक सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त होता है।

मिल की पद्धति विशेषानुमानात्मक (Inductive) और अनुभूत्यात्मक हैं। उसमें आत्मपरक अनुभूति (Introspection) और अन्तर्दृष्टि (Inner Observation) के आधार पर मानसिक स्थितियों को जानने का सचेष्ट प्रयास मिलता है। आज के प्रयोगवादी मनोवैज्ञानिक अध्ययन के युग से बहुत पहले का होने के नाते उसके पास वर्तमान पद्धति का कोई महत्व नहीं था। इसलिए कहीं-कहीं पशु-मनोविज्ञान (Animal psychology) के रूप में ही इनका संदर्भ प्रस्तुत हुआ है। उसने जो कुछ भी आत्मपरक पद्धति के अनुसार अध्ययन करके हमें दिया है, इसीलिए उसकी आज की अन्वेषणात्मक पद्धति से तुलना करना उसके साथ अन्याय करना होगा—क्योंकि भौतिक मनोविज्ञान (Psycho-physics), बाल-मनोविज्ञान (Child-psychology), समाज-मनोविज्ञान (Social psychology) जैसे विषय जन्में ही नहीं थे। किन्तु यह तो मानना होगा कि उसके युग में भौतिक विज्ञान (Physical Science) अपनी समस्त प्रदीप्त सम्भावनाओं के साथ विकसित हो चुका था। रसायन शास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण विकास प्रस्तुत हो चुके थे। यही नहीं शारीरिक और मानसिक सापेक्षता के आधार पर शरीर-ज्ञान (Physiology) में काफी विकास हो चुका था।

इसमें सन्देह नहीं कि वह युग मनोवैज्ञानिक पद्धति का युग था। इसमें मनोविज्ञान को भी परीक्षणात्मक (Empirical) पद्धति से अवगत कराया था। जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु के अन्वेषण के सिद्धांत ने भौतिक पदार्थों के समुचित ज्ञान को ग्रहण करने में

योग दिया है, ठीक उसी प्रकार मिल ने यह अनुभव किया था कि मानसिक अवस्थाओं के अध्ययन के लिए यदि चेतन परमाणुओं (Sense Atom) की इकाइयों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाय और उनको नियमपूर्वक प्रबुद्ध रूप में देखा जाय तो ऐसे नियमों और उपनियमों का अध्ययन हो सकता है जो मनुष्य की मानसिक शक्तियों को प्रभावित करती रहती हैं। इस प्रकार उसका सम्पर्कवादी सिद्धांत (Doctrine of Association) एक प्रकार की मानसिक रसायनिकता (Mental-Chemistry) सी लगती है। उसके अनुसार मानसिक स्थिति (Mind) की वास्तविक व्याख्या उसकी विभिन्न स्थितियों और प्रवृत्तियों के संयोगात्मक एवं सम्मिलित अध्ययन एवम् उनके भावान्तरण की विधियों द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि वह आज के युग में जीवित होता और आज की मानसिक स्थिति की जैवकीय धारणाओं से परिचित होता और यह जानता होता कि बुद्धि स्वयं एक क्रियाशील चेतन स्थूल इकाई है, तो वह ऐसी कठिनाइयों को अनुभव करता कि बुद्धि के स्थूल रूप के समक्ष उसके सिद्धांत नहीं ठहर सकते।

मिल के अनुसार सम्पर्कवाद के लक्षणों में से एकात्मक अनुभूति (Contiguity) भावना बड़ी महत्वपूर्ण है। इसके बाद दूसरा महत्वपूर्ण तत्व सादृश्यता (Similarity) का है। वह सादृश्यता अथवा समानता के प्रति बहुत इच्छुक रहा है। उसकी प्रस्तावनायें बहुत सन्देहास्पद सी लगती हैं। वह इस नियम की व्याख्या करते हुए कहता है, "हमारे विचार सम्वेदनाओं के क्रमबद्ध अस्तित्व और स्रोत के अनुसार विकसित होते हैं। वे उन्हीं के प्रतिरूप होते हैं।" यह क्रम दो प्रकार के होते हैं। एक तो समकालीन होता है (Synchronous) और दूसरा अनुक्रमिक (Successive) होता है। उसके अनुसार सम्पर्कात्मकता (Association) की शक्ति के दो प्रधान स्रोत हैं। पहला सम्पर्कात्मक अनुभूति की स्पष्टता (Vividness of the Associate Feeling) और दूसरा सम्पर्क की पुनरावृत्ति

(The Frequency of Association)। वह वास्तव में यह नहीं समझ पाया कि रुचि ही मनोयोग (Attention) का मूल स्रोत है।

उसके सम्पर्कवादी मनोविज्ञान में पुनरावृत्ति का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी स्पष्ट व्याख्या उसने अविभाज्य सम्पर्क (Inseparable Association) के रूप में करते हुए उसे वाह्य भौतिक जगत की ऐसी व्यापक धारणा बताया है जो हममें से प्रायः सभी में वर्तमान हैं जैसे रंग को बिना उसके विस्तृत फैलाव के हम बोध नहीं कर पाते, ठीक उसी प्रकार सम्पर्क और पुनरावृत्ति भी साथ-साथ एक दूसरे के सम्बद्ध है। इस पुनरावृति का मूल्य ज्ञान की व्याख्या के लिए निस्सन्देह ही बहुत आवश्यक है। लेकिन मिल ने अपनी व्याख्या में इसके इस पक्ष पर अधिक बल नहीं दिया है। जैसे हम किसी भी रंग की कल्पना के साथ उसके विस्तार के सम्पर्क को अपने विचार से पृथक नहीं कर सकते उसी प्रकार उन्हीं आधारों पर यह सिद्धांत भी प्रतिपादित होता है कि, हमारी आँख रंग की अनुभूति संपर्क द्वारा ही बोध ग्रहण करती है। वह स्वतः एक ऐसा विस्तृत अंग (extended organ) है जो अपनी शक्तिशाली मांस-पेशियों द्वारा गतिमान होती है। जैसे हम अपनी असमर्थता को नहीं व्यक्त कर सकते ठीक उसी प्रकार हम अविभाज्य सम्पर्कानुभूति के माध्यम से विश्वास की भी व्याख्या नहीं कर सकते हैं। मिल द्वारा प्रतिपादित विश्वास के सिद्धांत को एक दूसरे सम्पर्कवादी साम्प्रदाय (Association School) के प्रवर्तक बेन (Bain) ने कहा है कि "जब जेम्स मिल ने विश्वास को अविभाज्य (Inseparable Association) के रूप में प्रस्तुत करते हुये बड़ी गलत बात पर बल देने की चेष्टा की थी। यदि कोई भी दो वस्तुएँ हमारी अनुभूति में लगातार सम्बद्ध रही हैं तो हमारा विश्वास है कि यह दोनों एक दूसरे का अनुकरण करते हुए व्यक्त होती हैं। किन्तु अभिभाज्य सम्पर्क (Inseparable Association) में लगातार कई प्रकार की पुनरावृत्तियाँ होती रहती हैं और तब विश्वास विरोधाभास के अभाव में ही

विकसित होता है। हम लोगों के मानसिक सम्पर्क में डियाना आफ दी इफीसियेन्स (Diana of the Ephesians) और उससे सम्बद्ध महानता का भाव आज जिन सम्पर्कात्मक अनुभूतियों के साथ व्याप्त है, शायद उस प्रकार उस समय के डियाना के उपासकों में नहीं रहें होंगे। किन्तु उस समय के लोग डियाना में अधिक विश्वास रखते थे जबकि हम लोगों में वह विश्वास कुछ भी नहीं है। अस्तु बेन (Bain) के मतानुसार जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, विश्वास का आधार आदिम सहजता और विरोधाभाव में है।

मिल के अनुसार हमें वाह्य जगत का ज्ञान अपनी ही सम्वेदनाओं द्वारा प्राप्त होता है। ये सम्वेदनाएँ अधिकांश रूप में हमारी अनुभूतियों में निहित होती हैं, जैसे स्पर्श की सम्वेदना में दृष्टि की अनुभूति अथवा इंजन की सम्वेदना से गतिशीलता की अनुभूति। प्रमाण के लिए जैसे हमें पुस्तक के दृष्टिबोध के साथ उसका ठोसपन लम्बाई-चौड़ाई आकार का बोध होता है। वाह्य तत्व का बोध हमें इसलिये होता है क्योंकि रंग सम्बन्धी सम्वेदनाएँ हमारी दृष्टि को उस अनुभूति से सम्बद्ध करती हैं जो हमारे अन्दर पूर्वतः होती हैं और हम स्पर्श से किताब की कठोरता को अपनी मांसपेशियों की शक्ति तनाव से अनुभव करते हैं। मिल के काल से यह सिद्धांत मनोविज्ञान सम्पर्कवादी व्याख्या के नाम से आज तक प्रचलित है। इसका अर्थ यह है कि चूँकि किसी वाह्य वस्तु का मूल रूप उसकी मात्र आदर्श रचना को व्यक्त करती है इसीलिए वह तत्कालीन चेतना के मूलभूत अनुमान का प्रतिनिधित्व नहीं करती।

सम्पर्क के माध्यम से मिल स्मृति की प्रक्रिया को कल्पना शक्ति, धारणा शक्ति एवम् प्रत्येक मानसिक शक्ति की व्याख्या प्रस्तुत करता है। यही नहीं वह उसी सिद्धान्त के आधार पर मनुष्य की नैतिक प्रकृति की भी व्याख्या करता है। आत्मबोध और कर्त्तव्यानुभूति (Moral feeling) तथा रागात्मक अनुभूति को वह मात्र सहज एवम् मूल

अनुभूति नहीं मानता। इनको वह ऐसी जटिल मनःस्थिति मानता है जो भौतिक न होकर अनुप्राणित होती रहती है। इनके उत्पत्ति का स्रोत सरलता के साथ जाना जा सकता है। अनुभूतियों के मूल तत्व आनन्द उत्पादक या पीड़ा उत्पादक सम्वेदनाओं से विकसित होते हैं। मनोवैज्ञानिक आधार पर वास्तविक समस्या यह है कि इस प्रकार से उपजी हुई अनुभूतियाँ अपने अन्तिम रूप में किन अनुभूत्यात्मक प्रक्रियाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति पाकर अपने को व्यवस्थित करती हैं।

प्रमाण के लिए यदि हम कर्त्तव्यानुभूति के उदात्त स्तर का अर्थात् उदार मनोवृत्ति (Benevolence) का अध्ययन करें तो हमें यह अनुभव होगा कि यह मनोवृत्ति किस प्रकार आत्महित अथवा आत्म-स्वार्थ के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। किन्तु मिल इस जटिल समस्या को भी बेन्थम की भाँति उद्यत शक्ति (Motive) और मन्तव्य (Intention) के विभिन्न भेदों के आधार पर प्रस्तुत करता है। उसके मतानुसार उदार मनोवृत्ति की उद्यत शक्ति (Motive) सदैव आत्महित एवं आत्म स्वार्थ से परिचालित होती है। यह आत्म हित या आत्म स्वार्थ वह आनन्द है जो मनुष्य अपने उदार कार्यों के माध्यम से ग्रहण करता है। इसके प्रेषण में मन्तव्य (Intention) का वास्तविक रूप स्वार्थहीनता के माध्यम से व्यक्त होता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक उदार कार्य मनुष्य के वैयक्तिक आनन्द का प्रकाशक होता है। वह चाहे दूसरों के कल्याण भाव से उद्भूत हुआ हो अथवा उनकी आनन्द भावना से प्रेरित होकर व्यक्त हुआ हो। इसीलिए मिल ने इस सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट रूप में कहा है, "क्या सामाजिक सद्भावना के लिए इससे बढ़कर कोई और बात हो सकती है कि हमें दूसरों के कल्याण में ही वास्तविक आनन्द प्राप्त हो ? क्या व्यापक कल्याण भावना में आत्मराग अनुभव करने से भी कोई बड़ी वस्तु है ?" प्रस्तुत व्याख्या के आधार पर ही हम तथाकथित स्वार्थहीन उद्यत शक्ति (Disinterested Motive) में निहित विरोधाभाव को आँक सकते

हैं। साथ ही यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मानव प्रकृति से सम्बन्धित स्वार्थहीनता अथवा रुचिहीनता कितने निरर्थक शब्द को व्यक्त करता है।

वह शक्ति जो किसी भी कार्य व्यापार को नैतिक अथवा अनैतिक स्तर पर मूल्यांकित करती है वह उपयोगितावाद की शक्ति है। अनुभूति के माध्यम से मनुष्य में रुचि और मनोवेग के आधार पर उनकी उपादेयता का भी बोध कर पाते हैं (किन्तु मिल की प्रवृत्ति इस दिशा में ऐसी नहीं है)। उसका मत है कि विरोधी प्रकार के कार्य व्यापार को न कर सकने में जो भावना कार्य करती है वह अपनी क्षमता में निहित अच्छे और बुरे के विवेक विभाजन से प्रशासित होती है। यह विभाजन और विवेक सामान्य समुदाय की संयुक्त क्षमता और हित की दृष्टि से की जाती है तो हम उसे कानून की संज्ञा देते हैं। किन्तु जब यह मात्र व्यक्ति या व्यक्तियों की क्षमता और हित तक सीमित होती है तो हम उसे नैतिक भावनाओं के नियन्त्रण के रूप में ग्रहण करते हैं।

आनन्द और पीड़ा इस प्रकार नैतिकता के सार तत्व हैं। और नैतिक स्वीकृति अथवा अस्वीकृति प्रशस्ति अथवा निन्दा मनुष्य की विवेकपूर्ण बुद्धि और उसकी सत शक्ति, एवं आनन्द की बृहत्तर अथवा निम्नतर परिधियों द्वारा नियन्त्रित होते रहते हैं।

मिल ने जिस सम्पर्कवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था वह उसके सम्प्रदाय वालों द्वारा मनोविज्ञान के क्षेत्र में बराबर प्रयुक्त होता आ रहा है।

३. शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त—मिल के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों से ही सम्बन्धित उसके शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्त हैं। वह किसी भी अर्थ में शिक्षा के मूल्यों के प्रति बेन्थम से कम जागरूक नहीं रहा है। बेन्थम के समान ही वह निम्नवर्ग और उच्च वर्ग को समान रूप से उच्चतर शिक्षा मिलने के प्रति आग्रहशील रहा है। वह लैंकास्टेरियन

(Lancasterian) और बेल (Bell) पद्धति की शिक्षाओं के विवादों में सक्रिय भाग लेता रहा है। फिलैन्थ्रोफिस्ट (Philanthrophist) और अन्य पत्रों में भी वह चर्च आफ इंगलैण्ड द्वारा धार्मिक शिक्षाओं को स्कूलों में प्रचलित करने का कट्टर विरोध करता रहा है। इससे भी आगे वह धर्म निरपेक्ष (Secularist) स्थिति का घोर समर्थक हो गया था। वह कहता था कि किसी भी प्रकार का धर्म स्कूलों में नहीं पढ़ाना चाहिये। यहाँ तक कि बाइबिल की भी शिक्षा स्कूलों से निकाल देनी चाहिये। शिक्षा-सम्बन्धी आंदोलनों में वह कितना व्यावहारिक रुचि रखता था यह उसकी उस विफलता से अनुमान लगाया जा सकता है जिसका सूत्रपात उसने एक क्रेस्टोमैथिक स्कूल (Chrestomatic School) की स्थापना करके ठीक उसी प्रकार करना चाहता था जिस प्रकार कि बेन्थम नें अपने शिक्षा सम्बन्धी सिद्धांतों द्वारा निर्धारित किया था। उस समय यूनिवर्सिटी आफ लन्डन (University of London) के विख्यात शिक्षाशास्त्रियों के सहयोग के कारण उसको इस दिशा में थोड़ी सहायता भी मिली थी और कुछ समय के लिए वह इसमें सफल भी हो गया था।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त मिल का शिक्षा सम्बन्धी लेखक के रूप में एक विशेष और प्रमुख स्थान है। क्योंकि उसने शिक्षा के सिद्धांतों को अद्वितीय दृष्टि से विशुद्ध दार्शनिक भाव स्तर पर अंकित करने का प्रयास किया है। इसका प्रमाण बहुत अच्छे रूप में उसके द्वारा लिखित इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में शिक्षा सम्बन्धी वह लेख है जिसमें उसने बड़े ही विवरणात्मक दृष्टि और मनोवैज्ञानिक आत्म-अनुभूति के साथ शिक्षा के प्रमुख रूपों पर विवेचन किया है। उन विचारों में से तीन प्रमुख विचारों का उल्लेख यहाँ कर देना आवश्यक है।

पहला तो यह कि वह शिक्षा को व्यक्ति को दिया गया वह अस्त्र मानता है जिससे वह अपने लिए और फिर दूसरों के लिए आनन्द का सृजन करता है। इसी आधार पर उसने शिक्षा की परिभाषा इस

प्रकार दी है, "शिक्षा उन समस्त साधनों को एकत्र करके मनुष्य द्वारा प्रयोग में लाने वाली शक्ति है जो मानव की मानसिक स्थिति को अधिक से अधिक सीमा तक मानव आनन्द के लक्ष्य पूर्त्ति में सहायक हो सके। इसीलिए जीवन का वह सब कुछ जो अस्तित्व से लेकर नश्वरता की सीमा तक व्यक्त होता है वह इस रूप में अवतरित होता है कि मनुष्य की मानसिक विशेषताओं को आनन्द की सीमा तक परिचालित करता है और इस बात की प्रेरणा देता है कि वह शिक्षा के माध्यम से उन समस्त वस्तुओं के प्रति जिज्ञासु होकर शिक्षा ग्रहण करे।"

यद्यपि शिक्षा सम्बन्धी यह विचार बहुत ही व्यापक दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं और ये बहुत उपयुक्त भी हैं फिर भी यह अत्यधिक अव्यावहारिक है। इसमें व्यक्ति के नैतिक और बौद्धिक संस्कारों के प्रति विशेष आग्रह है। व्यक्ति के चरित्र का निर्माण और उसका बौद्धिक विकास तथा ज्ञान सम्बन्धी व्यापकता मात्र स्कूल काल तक ही सीमित नहीं है वरन् इसकी व्यापकता सम्पूर्ण जीवन में है। इसमें सन्देह नहीं कि मिल ने शिक्षा के सामाजिक मूल्यों पर एक आदर्श उपयोगितावादी के समान विशेष बल दिया है और उसकी आवश्यकता उसने बार-बार दुहरायी है। व्यक्ति को न्याय और उदारता में उतनी ही और वैसी ही शिक्षा मिलनी चाहिए जिस प्रकार कि उसे बौद्धिक शक्तियों और भौतिक ज्ञानों में दक्ष होना चाहिये क्योंकि वह मात्र व्यक्ति नहीं है बल्कि सामाजिक प्राणी भी है। सत आचरण और आत्म-नियंत्रण उसके मुख्य गुण होने चाहिए अर्थात् उसमें अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करने की क्षमता ग्रहण करनी चाहिये और जहाँ तक संभव हो अपने वैयक्तिक सुखों-दुःखों को पी करके अपने सहज बन्धुओं के हित को ध्यान में रखना चाहिए।

इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए मिल शिक्षा विज्ञान को मनोविज्ञान पर आधारित करके देखता है और सम्पर्कात्मक प्रक्रिया के महत्व को ‑त्वशील शिक्षा विधि की सीमा तक विस्तार के साथ उसकी

व्याख्या भी करता है। बेन (Bain) और उसके अन्य साथियों द्वारा यह सिद्धान्त शिक्षा सम्बन्धित सर्वमान्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है किंतु मिल के काल में उसका यह रूप नहीं था। इस सम्बन्ध में मिल स्वयं कहता है कि "ज्ञान की क्रमबद्धता जो मनुष्य की अनुभूति और उसके विचार पर आधारित होती है वही शिक्षा की रचना वस्तु का सृजन करती है। आनन्द उपलब्धि जो कि शिक्षा का लक्ष्य है वह व्यक्ति के आचरण पर आधारित है और चूँकि मनुष्य के प्रायः सभी आचरण उसकी अनुभूति और बौद्धिकता से उपजते हैं इसलिए शिक्षा का मुख्य कार्य यह है कि वह आवश्यक बौद्धिकता और विचार दूसरे विचारों की अपेक्षा उनमें उत्पन्न कर सके। अस्तु शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य में मानसिक विकास की क्रमिक गति उत्पन्न करना है।" यह शिक्षा अपने में बहुत ही स्वस्थ तत्वों से परिपूर्ण है किंतु शिक्षा का एक पक्ष यह भी है कि शरीर का प्रभाव मानसिक स्तर पर भी पड़ता है। इस सम्बन्ध में केबानिस (Cabanis) के अनुयायी के रूप में मिल बड़े आधुनिकतम निष्कर्षों पर पहुँचता है और कहता है कि "चिकित्सा सम्बन्धी प्रगति कला या शिक्षा विज्ञान की शाखा नहीं हो सकती।" शरीर को पुष्टि करना मानसिक तीव्रता के लिए परम आवश्यक है। आज हम इसकी अनिवार्यता को अच्छी तरह अनुभव करते हैं और अपने व्यावहारिक प्रयासों से उसकी धारणाओं को निर्धारित भी करते हैं। "शारीरिक कारकों (Causes) को नैतिकता के साथ विकसित होना चाहिये और इस सम्बन्ध में स्वयं प्रकृति इस बात की रोक प्रस्तुत करती है ताकि भुखभरे व्यक्तियों में से अधिक से अधिक बुद्धिमान और चरित्रवान व्यक्तियों का निर्माण हो सके। कोई व्यक्ति विशेष असाधारण व्यक्ति भले ही हो जांय और अपनी पतित अवस्था में भी वह अपनी मानसिक तीव्रता का भले ही प्रदर्शन कर दे किन्तु सामूहिक रूप में नीच, पतित एवं तीव्र बुद्धि वाले लोग साधारणतया संसार में कहीं भी नहीं मिल सकते।

मिल ने शिक्षा की शक्ति को अच्छी तरह अनुभव किया था और शिक्षा-विस्तार सम्बन्धी विचारों में वह काफी सीमा तक अतिवादी भी था। वह हेलवेटियस (Helvetious) का अनुयायी था और उसको अक्षरशः मानता था। इस सम्बन्ध में वह इतना उत्साही था कि वह शिक्षा सम्बन्धी अन्य आवश्यक विशेषताओं पर ध्यान नहीं देता था और यह मानता था कि शिक्षा शक्तिमान तत्व है जो किसी भी वर्ग के भेद-भाव को बनाये रखने में सहायता देती है। यदि "शिक्षा द्वारा प्रत्येक वस्तु प्रशासित नहीं होती तो फिर शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो जो बिना शिक्षा के चल सके।" "इसलिए हेलवेटियस की यह बात माननी पड़ेगी कि आज यह विभिन्नता मात्र शिक्षा ही के कारण विकसित हुई है। यदि किसी भी प्रकार का भेद समाज में वर्त्तमान है तो वह मात्र शिक्षा का पैदा किया हुआ है।" हेलवेटियस ने यह निर्धारित किया था कि प्रायः मानव समुदाय मानसिक तीव्रता की ओर स्वभावतः समान रूप से प्रवृत्त होता है। मनुष्य मनुष्य में भेद इसीलिए शिक्षा के माध्यम से ही उपस्थित होता है। मिल भी अधिकांश रूप में इसी सिद्धांत का अनुयायी है। इस बात में एक गहरी सच्चाई भी है। यदि हम शिक्षा को उतने ही विस्तृत अर्थ में ग्रहण करें, जिस विस्तृत अर्थ में मिल ने किया है, और उसके पर्यावरण के उन विभिन्न भौतिक और सामाजिक तत्वों को भी निहित कर लें जो जीवन के चारों ओर घटित होते रहते हैं तो इसकी मार्मिकता भी स्पष्ट हो जायगी। अवसरों और परिस्थितियों के भेद वातावरण और अनुभूति के रूप में मनुष्य मनुष्य में वर्तमान भेद-भावों की काफी सीमा तक व्याख्या कर देते हैं किन्तु यदि सर विलियम जेन्स की भाँति बिना उसके आवश्यक तत्वों को ग्रहण किये इस सिद्धांत को हम मान लेंगे और मिल के केवल इसी वाक्य को दुहराते रहेंगे कि समस्त मानव जाति आधारभूत प्रगति शक्ति के साथ पैदा हुई है तो वह स्थिति बड़ी ही विवादास्पद हो जायगी। ऐसा इसलिए होगा क्योंकि इसमें जन्मजात रुचि और स्तरों की अवहेलना करके उन सीमाओं पर विचार नहीं हो सकेगा जो कि

वंशानुक्रम के नाते उपस्थित होती हैं। इसमें इस तथ्य की अवहेलना होगी कि मनुष्य में वैयक्तिक और जातीय भेद प्रकृतिगत होते हैं और शिक्षा की शक्ति भी इन सीमाओं द्वारा अनुशासित और सीमित होती है। फिर भी इसे इन्कार नहीं किया जा सकता कि शिक्षा का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है और इस बात की संभावनायें अधिक हैं कि हम मानसिक विकास के आधार पर बहुत बड़े काम कर सकते हैं किंतु यह भी सम्भव उसी समय होगा जब हम मनुष्य के पुंसत्व और उसके गुण सम्बन्धी विशेषताओं पर उसकी प्राकृतिक असमानताओं और मानसिक शक्तियों की अपेक्षा अधिक आग्रहशील होंगे और इस बात को भी स्वीकार करेंगे कि किसी सीमा तक शिक्षा भी सब मनुष्यों को समान रूप से बुद्धिमान बनाने में अपनी सीमाओं के कारण असमर्थ है। यद्यपि मिल इस दिशा में बड़ा आशावादी था फिर भी उसकी दृष्टि ठीक दिशा में विकसित हुई थी।

अध्याय ७

जेम्स मिल : राजनैतिक एवं न्याय विचारक के रूप में

[शासन सिद्धांत; राजनैतिक अर्थशास्त्र, न्याय नीति और अन्तर्राष्ट्रीय कानून]

१—शासन सिद्धान्त (Theory of Government)—इस स्थापना को मान लेने के बाद कि प्रत्येक शासन का अन्तिम लक्ष्य जन-कल्याण की स्थापना है अथवा यह कि अधिक से अधिक आनन्द के साधन प्रदान करना है यह बात कि प्रत्येक शासन-सत्ता को मानव प्रकृति के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर ही स्थापित होना चाहिए; स्वतः सिद्ध हो जाती है। मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में अनुभूतियाँ यह सिद्ध करती हैं कि व्यक्ति सदैव अपने आनन्द और उद्देश्य के आधार पर ही आचरण करने के लिए उद्यत होता है और ऐसा करने में उसका विशेष आग्रह इस बात पर होता है कि अधिक से अधिक आनन्द अर्जित करके कम से कम दुःख का भारवहन करे। सुख और आनन्द को प्राप्त करने के इस प्रयास में वह कभी-कभी इतना स्वार्थरत हो जाता है कि वह दूसरे के सुख और आनन्द पर आघात पहुँचा कर अपनी आत्म-तुष्टि और अपनी इच्छापूर्ति करने की भी चेष्टा करता है। यह मानव प्रकृति का एक निश्चित नियम है कि यदि मनुष्य को एक निश्चित अधिकार दे दिया जाय तो यह निश्चय ही अपने स्वार्थपूर्ण लक्ष्यों को अर्जित करने के लिए उसका दुरुपयोग करता है। दूसरे शब्दों में वह अपने सहयोगियों को

अपने समुचित अधिकार के बल पर स्वार्थपूर्ण मन्तव्यों की पूर्ति का यत्न बनाने का प्रयास करता है। इसलिए उसके अधिकारों पर एक ऐसी शक्ति का होना आवश्यक है, जो उसका नियंत्रण कर सके, उसकी इच्छाओं को परिष्कृत कर सके और दूसरे के अधिकारों पर आक्षेप करने की प्रवृत्ति क्रमशः समाप्त कर सके। शासन-सत्ता की कल्पना इसी विचार स्रोत से उपजती है। क्योंकि शासन-सत्ता का मुख्य कार्य यह देखना है कि कोई भी व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अधिकारों पर अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप न कर सके।

किन्तु शासन-व्यवस्था स्वतः कई व्यक्तियों की एक संस्था होती है; उनमें भी सभी मानवीय भावनाएँ और प्रवृत्तियाँ होती हैं। यदि शासन-सत्ता को अनियंत्रित छोड़ दिया जाय अर्थात् यदि उस पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं रहेगा तो इसका परिणाम यह होगा कि वे (शासन सत्ता के संचालक) स्वयं अपनी स्वार्थ-भावनाओं के आधार पर कार्य करने लगेंगे और उनके इस आचरण द्वारा साधारण जनता पर बड़ा कठोर अन्याय और अभिशाप अपना प्रभाव डालेगा। मानव प्रकृति की पहुँच और उसकी कुशलता काफी असीम सम्भावनाओं से युक्त होती है और उसकी अभिव्यक्ति हमें प्रत्येक मानव-संघ और सभा में स्पष्टतया देखने को ठीक उसी प्रकार मिल जाता है, जैसे कि व्यक्ति की वैयक्तिक प्रकृति में पाया जाता है।

फिर शासन-व्यवस्थाओं द्वारा शक्ति का दुरुपयोग न हो सके; इसके लिए कौन से सुरक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त निर्धारित किये जा सकते हैं। यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है; जिसके आधार पर कि आदर्श शासन-व्यवस्था या सर्वोत्कृष्ट शासन-व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है।

यदि हम साधारण रूप से प्रचलित तीन प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं (प्रजातन्त्रात्मक; सामन्तवादी और एकछत्रात्मक, Democratic, Aristocratic, Monarcchic) का अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायगा कि इन तीनों में से किसी में भी आपेक्षित आदर्श स्थिति नहीं है और यह किसी भी प्रकार की सुरक्षा देने में असमर्थ हैं। इनमें से

प्रत्येक निजी स्वार्थ से प्रेरित होकर उसकी आदर्श स्थिति को नष्ट कर देते हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि इन तीनों को एक साथ मिला देने से कोई परिणाम नहीं मिलता, जैसा कि ब्रिटिश-संविधान जिसमें ये तीनों (King, Lords, Commons) वर्ग सम्मिलित हैं, नहीं हो सका है। तथाकथित उपर्युक्त सन्तुलन मात्र काल्पनिक वस्तु है। इन तीनों में से कोई भी दो तत्व किसी समय एक हो सकते हैं—जैसा कि प्रायः होते आये हैं और तीसरे तत्व को निष्क्रिय और अकर्मण्य रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं और तब इस आपसी समझौते का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि सम्राट और लार्ड्स अक्सर जन-साधारण के विरुद्ध गुट बना लेते हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या कहीं भी प्रत्याशित सुरक्षा पायी जा सकती है और यदि वह किसी भी रूप में पायी जा सकती है तो कहाँ? मिल ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि वास्तविक सुरक्षा समान भी है और वह प्रतिनिधि प्रणाली द्वारा प्रत्येक शासन-सत्ता में जन-प्रतिनिधियों द्वारा प्रयुक्त होती है और यह प्रतिनिधि विधात्मक-सम्बन्धी बुराइयों पर रोक का काम करते हैं। किन्तु उनको अधिकतर सशक्त रूप में कार्य करने के लिए कुछ सुविधाएँ देनी पड़ेंगी और जहाँ उनकी रोक लगाने की शक्ति को अधिक सबल बनाना होगा वहीं उनके और समुदाय के हितों में समानता भी स्थापित करनी होगी; यदि ऐसा होगा तो यह जन-प्रतिनिधि अपनी शक्ति का दुरुपयोग भी कर सकते हैं।

उपर्युक्त आधार पर पहली आवश्यक वस्तु यह है कि लोक सभा (House of Commons) जो कि वास्तव में रोक लगाने वाली है उसे नियन्त्रण करने वाली सभा है; उसको अधिक सशक्त बनाना होगा; ताकि वह किसी भी संघर्ष के समय लार्ड्स और सम्राट का मुकाबला कर सकें। मिल सम्राट का कट्टर विरोधी नहीं था। इसके विपरीत जैसा कि उसने जनवरी १८३६ में लन्दन रिव्यू में 'एरिस्टोक्रेसी' शीर्षक से एक लेख लिखते हुए कहा है कि सम्राट का हित और जगत का हित दोनों ही एक अभिभाज्य सूत्र में बँधे हैं और इसलिए केवल उसी समय

संघर्ष उत्पन्न होता है, जब सम्राट किसी भी एरिस्टोक्रेसी के सामने झुक जाता है और जन-हित को भूल जाता है। निश्चय ही यह स्थिति एक अभिशाप की स्थिति होती है। किन्तु यदि सम्राट चाहें तो वह स्थिति भी बदली जा सकती है और उसी में उसका कल्याण भी है।

लार्ड सभा के विषय में उसने अपने काल में बड़े क्रांतिकारी सुझाव दिये थे। उसने यह प्रस्तावित किया था कि ऐसा कानून पास होना चाहिये कि यदि किसी भी बिल को एक बार लोक सभा (House of Commons) पास करके लार्ड सभा में भेजती है और लार्ड सभा उसे रद्द करके वापस भेज देती है तो लोक सभा को उसे तीसरी बार पास करने का अधिकार बिना लार्ड सभा के सहयोग के भी मिल जाना चाहिए। आज के संदर्भ में जबकि लार्ड सभा की वास्तविक स्थिति ठीक उसी के बताये समान है तो कभी-कभी थोड़ा आश्चर्य-सा भी लगता है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि यह कैसे मान लिया जाय कि लोक सभा में जितने भी सदस्य, लोक सभा में प्रतिनिधि रूप में जायँगे उनके और सामुदायिक हितों के बीच एक निश्चित समानता रहेगी। इस सम्बन्ध में मिल ने बड़े निश्चित सुझाव दिये हैं जिनमें से एक यह है कि प्रतिनिधियों की अवधि बहुत थोड़े सीमित काल तक होनी चाहिये। इसका आशय यह होगा कि मतदाताओं से हमें इस बात की बार-बार प्रार्थना करनी पड़ेगी कि अपने नये प्रतिनिधि भेजते रहें। कुछ लोगों की दृष्टि में यह बात अव्यावहारिक लग सकती है किन्तु यह भी सत्य है कि प्रस्तुत सुझाव सर्वथा असम्भव नहीं है और इसे अधिक सरल बनाया जा सकता है।

यह निश्चित हो जाने के बाद मतदाताओं की योग्यता का प्रश्न आता है। यहाँ पर मिल ने कुछ अर्थों में बड़ी विचित्र बातें कही हैं। उसकी यह धारणा थी कि मतदाताओं का क्षेत्र जितना है उतना ही रहना चाहिये और उनमें वृद्धि नहीं करनी चाहिये। उसके मतानुसार ऐसा इसलिए भी नहीं करना चाहिये ताकि वे जिनको मत देने का अधिकार नहीं है साधारण

सामुदायिक हित की बात नहीं कर सकते क्योंकि उनके हित समुदाय में केवल उन्हीं तक हैं जिनके सम्पर्क में वे होते हैं। अर्थात् उसका यह मत था कि वे बच्चे जो अपने माता-पिता के अधीन हैं; स्त्रियाँ जो पुत्री और पत्नी के रूप में अपने स्वार्थों के नाते पिता और पति से बँधी रहती हैं, इनको मत देने का कोई अधिकार नहीं। ऐसी स्थिति में केवल पुरुष ही बचे रहते हैं जिनको मत देने का अधिकार वह स्वीकार करता है। किन्तु इसमें भी मतदाता की आयु के विषय में वह विचित्र धारणा रखता था। उसका यह मत था कि मतदान देने का अधिकार चालीस वर्ष के बाद देना चाहिये। इस सम्बन्ध में तर्क प्रस्तुत करते हुए वह कहता है कि चालीस वर्ष के लोग अपने से छोटी आयु वाले लोगों के हित की बात स्वभाव से ही सोचते हैं। क्योंकि बड़ी आयु के लोगों में से अधिकांश के पुत्र होते हैं और उनकी हित सम्बन्धी समस्याओं से वे सुपरिचित होते हैं। वस्तुतः यही मानव-प्रकृति का विधान (Law of Human Nature) है।

मिल के युग में बहुत से ऐसे व्यक्ति थे जो व्यापक मताधिकार यहाँ तक कि व्यापक पुरुष-मताधिकार तक के घोर विरोधी थे। वह समझते थे कि ऐसा करने से जनता के हाथ में शक्ति दे देना होगा और इसीलिए वे कहते थे कि चूँकि जनता के पास हस्तान्तरित शक्ति को योग्यता और विवेक के साथ प्रयोग करने की क्षमता नहीं है इसलिए यह अपने कल्याण की भी बात नहीं सोच या कर पायेंगे। जो लोग ऐसा अविश्वास रखते थे, मिल उनको बहुत ही कुटिल मनोवृत्ति वाला एवं स्वार्थी समझता था। वह उन्हें समाज के स्वार्थी एवं धनवान, सम्पन्न व्यक्तियों का प्रतिनिधि मानता था। उसका कहना था कि जनता के ऊपर इस प्रकार के आरोप लगाना निराधार है, क्योंकि जनता अपने हित और कल्याण की बात को खूब अच्छी तरह समझती है। यह बात और है कि कभी-कभी उससे भी गलतियाँ हो जाया करती हैं। साधारण जनता प्रायः समाज के बुद्धिमान, शिक्षित और प्रतिष्ठित व्यक्तियों के ज्ञान पर विश्वास करके उनसे परामर्श

लेकर अपने हितों को बहुत सरलता से जान-समझ सकती है। क्योंकि किसी भी समुदाय के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह यह जानते हुए कि उसके लिए क्या हितकर है अथवा उसके लिए कौन से कार्य लाभदायक हैं; वह उसकी उपेक्षा कर दे, संकट और विपत्ति में पड़े रहेंगे। मिल समाज के मध्यवर्ग के हित और कल्याण के लिए कुछ सुझाव देना चाहता था, क्योंकि यह मध्य् वर्ग समाज का वह भाग है जो कला, विज्ञान और विधान के क्षेत्र में प्रतिष्ठा पाता है और जो मानव प्रकृति को उदात्त और उदार बना कर सुसंस्कृत करने की क्षमता रखता है। इसके अतिरिक्त उसके इस प्रकार से सोचने का एक कारण यह भी था कि वह यह जानता था कि समाज का मध्य वर्ग ही ऐसा वर्ग है जो निम्न वर्ग के प्रति सहानुभूत्यात्मक दृष्टि रखता है और जो उस वर्ग की अच्छाइयों और प्रतिभाओं का आदर करता है। वह मध्य वर्ग के प्रति इसलिए और भी आग्रहशील था क्योंकि निम्न वर्ग मध्य वर्ग को सदैव आदर्श रूप में समझता आया है। उसकी यह घोषणा कई अर्थों में आश्चर्यजनक और विचित्र-सी लगती है क्योंकि इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मिल शासन-सत्ता को मध्य वर्ग के हाथ में इसलिए देना चाहता था, क्योंकि वह और उनके साथ के अन्य उपयोगितावादी विचारक मध्य वर्ग के थे।

सारांश में शासन-सत्ता सम्बन्धी वह सिद्धान्त जिसे उस काल के उपयोगितावादी बहुत ही सशक्त और प्रतिभापूर्ण मानते थे उसका सार-रूप उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। इसमें बहुत सी ऐसी बातें हैं जो विचित्र सी लगती हैं। एक तो यह कि मानव प्रकृति के सम्बन्ध में विचित्र धारणाओं के आधार पर इसने अपनी व्याख्या आरम्भ की है और फिर उससे विचित्र निष्कर्ष निकाल कर ऐसे शासन-सम्बन्धी सिद्धांत बनाए हैं जिनको देखने से ही यह पता चलता है कि इनके पीछे अनुभूत्यात्मक दृष्टि का अभाव है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि मानव-प्रकृति के विश्लेषण में मिल ने पक्षपात से काम लिया है क्योंकि उसने केवल मनुष्य में आत्महित की भावना को

ही सर्वश्रेष्ठ माना है और मानव-प्रकृति के उन तत्वों के साथ न्याय नहीं किया है, यहाँ तक कि उसे स्वीकार भी नहीं किया है जो मनुष्य की सामाजिक-प्रकृति की सापेक्षता में साहचर्य-भाव, सह-अनुभूति, उदारता और इसी प्रकार की अन्य सम्वेदनाओं को जन्म देती हैं। यही नहीं मिल की निष्कर्षात्मक शैली के विरुद्ध यह आक्षेप लगाया जाता है कि शासन-सत्ता की प्रकृति का विश्लेषण, सूक्ष्म और काल्पनिक आधारों पर नहीं किया जा सकता। उसके लिए वास्तविकता की अनुभूति होना और इसका जागरूक अध्ययन होना ठीक बेकन पद्धति (Baconian Method) के अनुसार होना चाहिये था। मैकाले ने एडिनबरा रिव्यू नामक पत्रिका में इन्हीं आधारों पर मिल के विचारों की आलोचना प्रस्तुत की थी। किन्तु, मिल के विचारों की आलोचना एक दूसरी दृष्टि से भी की जा सकती है। और वह दृष्टि है उसकी त्रुटिपूर्ण प्रतिनिधि-पद्धति के तर्क। यदि प्रतिनिधि के सिद्धान्त में प्रतिनिधियों और समुदाय के हितों पर इस प्रकार आग्रह किया जायगा तो वह प्रजातांत्रिक आधार पर अत्याचार (Democratic Tyranny) होगा अथवा उसका यह कहना कि जनता बिना वर्ग-हितों और पक्षों पर विचार किए ही कल्याणात्मक मार्ग निर्धारित कर लेगी, उतना ही गलत है, जितना कि यह कहना कि समाज का सम्पन्न वर्ग सामुदायिक जीवन का विरोधी होता है। वस्तुतः सम्पन्न वर्ग (Aristocracy) के दुष्प्रभावों से समाज को बचाने के लिए ही मिल ने इस प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये थे। और इन्हीं आधार पर सर जेम्स मैकिनटॉश ने भी सांस्कृतीय सुधारों की दृष्टि से वर्ग प्रतिनिधित्व की बात उठायी थी।

यह तो जैसा है, वैसा है ही, किन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि मिल के इन सिद्धांतों का प्रभाव ब्रिटिश राजनीति, उस समय की व्यावहारिक राजनीति और साधारण जनता पर बहुत तीव्र ढंग से पड़ा था। इनसाइक्लोपीडिया से उसने शासन व्यवस्था पर जो लेख लिखा था, उसने सन् १८३२ के रिफार्म बिल (Reform

Bill) को प्रस्तुत करने में कम योग नहीं दिया था। उस लेख में और उसी से सम्बन्धित अन्य लेखों ने काफी विस्तृत प्रभाव डाला था जो देश के कोने-काने में समान रूप से चर्चित हुए थे। प्रत्येक उत्साही समर्थक प्रचारक बन जाता है।[1] इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जब एबरडीन (Aberdeen) के मैरिशल कालेज (Marischal College and University) और विश्वविद्यालय के रेक्टर जोजेफ ह्यूम (Joseph Hume) के हाथ में इनसाइक्लोपीडिया का वह लेख पड़ा; जो कि पुस्तकाकार रूप में अलग से छपाकर बिना किसी मूल्य के ही वितरित हुई थी, तो उसके इन लेखों का उसने इतना आदर किया कि उसकी कई प्रतियों पर अपना नाम लिख-लिख कर यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में रखवा दिया। यही नहीं, उसकी प्रतियाँ लाइब्रेरी आव मेकैनिक्स जैसे स्थानों पर भी बिना मूल्य के बाँटी गई थी। इस प्रकार मिल की समस्त कृतियाँ और उसके विचार जन साधारण तक यहाँ तक कि कारीगरों, नवोदित युवकों और निम्न-वर्ग के लोगो में इस सीमा तक प्रचारित हो चुके थे कि प्रायः वे सभी आत्म-संस्कार (Self-Culture) के अभ्यास में लगे रहते और अपने को बड़ी-बड़ी राजनीतिक समस्याओं के प्रति जागरूक रखने की चेष्टा करते।

किन्तु, मिल ने मात्र अपने लेखों से ही राजनीतिक मत का मार्ग-दर्शन नहीं किया था। वह स्वयं ही संसद के प्रसिद्ध राजनैतिकों के साथ परिश्रम करता था। उसकी शक्ति लार्ड ब्रोहम (Lord Brougham) के सहयोग से अधिक प्रभावपूर्ण होती थी। जार्ज ग्रोट (George Grote) के साथ उसकी शक्ति को बड़ा उच्चस्तर मिलता था। रिकार्डो जैसा उसका शिष्य था जिसने राजनैतिक अर्थशास्त्र की ऐसी व्याख्या की थी, जो स्वयं मिल को स्वीकार थी। जोजफ ह्यूम उसके भावुक मित्रों में से था। उसके साथ रोबक (Roebuck) ऐसे व्यक्ति भी थे, जिन्होंने उसके लेखों का साधारणीकरण करके जनता में प्रचलित किया था। इसमें संदेह नहीं कि बेंथम के बाद क्रांतिकारी उपयोगितावादियों का वह एकमात्र नेता

था और उसका अधिक समय व्यावहारिक सुधारों को अधिक सफल रूप में कार्यान्वित करके दिखाना था।

२. राजनैतिक अर्थशास्त्र (Political Economy)—बेंथम के समान मिल भी एडमस्मिथ को राजनैतिक अर्थशास्त्र का अग्रगण्य मानता था। किंतु मिल के समय की दो और प्रतिभाएँ थीं जिनसे वह विशेष रूप से प्रभावित हुआ। उनमें से एक का नाम टी० आर० मालथ्यूस (T. R. Malthus) था जिसने जनसंख्या सम्बन्धी अनेक सिद्धांतों को प्रतिपादित करके सारे संसार में ख्याति अर्जित कर ली थी। दूसरा व्यक्ति, डेविड रेकार्डो था जिसके अर्थशास्त्र सम्बन्धी सिद्धांतों ने अर्थशास्त्रियों का ध्यान विशेष रूप हो आकृष्ट किया था।

मालथ्यूस ने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया था, उसका लक्ष्य ठीक वही था जो कि उपयोगितावादियों का था अर्थात् मानव आनन्द की सम्भावनाओं को एकत्रित करना। इस उद्देश्य को अग्रसर करने के लिए उसने अपनी पुस्तक ऐसे आन दि प्रिंसिपिल आफ दि पापुलेशन (Essay on the Principle of the Population) जो कि सर्वप्रथम १७९८ में प्रकाशित हुई थी उसमें उसने यह स्थापित करने की चेष्टा की है कि जनसंख्या के आधार पर किन-किन स्थितियों में जनसंख्या और जीवन निर्वाह की आवश्यकताएँ प्रगति के मार्ग को प्रभावित करती हैं। प्रजातीय शुद्धता का भ्रम प्रायः सभी के सामने खुल गया था। फ्रेंच और अंग्रेजी विचारक कौन्डरसेट (Condercet) और गाडविन (Godwin) भी इससे प्रभावित हो चुके थे। मालथ्यूस की दृष्टि में प्रजातीय शुद्धता उस समय तक असम्भव है जब तक कि मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह के साधनों की अपेक्षा जनसंख्या में अधिक हैं।

अस्तु, उसने इस विषय पर विशेष अध्ययन किया जिसका एक परिणाम यह हुआ कि उसने जीवन-निर्वाह के साधन और जनसंख्या के अनुपातात्मक विकास सम्बन्धी सिद्धांत को प्रस्तुत किया, जिसमें उसने यह सिद्ध किया कि यदि जनसंख्या बिना किसी रोक-टोक के ज्योमितीय गति से बढ़ती जाती है तो जीवन-निर्वाह के साधन गणिता-

त्मक गति (Arithmetical Progression) से ही विकसित हो पाती है और इसीलिए उसके सामने जो समस्या मुख्य रूप से प्रस्तुत हुई थी, वह यह थी कि एक निश्चित क्षेत्र में जीवन-साधन की तुलना में जनसंख्या की बढ़ती हुई गति को कैसे रोका जाय और इस सम्बन्ध में उसका यह निश्चित मत था कि यह केवल नियंत्रण (Check) द्वारा ही सम्भव हो सकता है। और उसने तीन प्रकार के नियन्त्रणों को प्रस्तुत करने की चेष्टा की जिनमें से पहला गरीबी पर नियन्त्रण, दूसरा बुराइयों और कुरीतियों पर नियन्त्रण, तीसरा आचरण सम्बन्धी नियन्त्रण। प्रकृति स्वयं इस प्रकार के नियन्त्रण प्रस्तुत करती रहती है। जो मनुष्य की कल्पना और उसके हस्तक्षेप में साधारणतया नहीं आ पाते किन्तु, यदि दूरदर्शिता और विवेक से हस्तक्षेप किया जाय तो इसके कुछ अच्छे लाभ भी हो सकते हैं। और इन्हीं आधारों पर चल कर जनसंख्या की समस्या सुलझायी जा सकती है। प्रस्तुत संदर्भ में उसने दो और बातों का उल्लेख किया है जिनका उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। उनमें से एक व्यक्तिगति सम्पति की बात है। मालथ्यूस ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वैयक्तिक सम्पत्ति मनुष्य को अधिक कार्यशील और सहनशील बनाने की प्रेरणा देती हैं। दूसरी चीज जिस पर वह विशेष बल देता है, वह विवाहसम्बन्धी धारणाओं से सम्बन्धित हैं। विवाह को वह मनुष्य में दायित्वपूर्ण आचरण एवं घर-गृहस्थी स्थापित करने की प्रेरणा स्रोत मानता है। किन्तु, वह बिना घर-गृहस्थी के समुचित साधन के विवाह करने का विरोध करता है। इसी आधार पर वह जनसंख्या सम्बन्धी एवं आचरण के सच्चरित्र गुणों से सम्बन्धित नियंत्रण पर विशेष आग्रह करता है।

मालथ्यूस (Malthus) के यह सभी सिद्धांत मिल ने स्वीकार कर लिए थे और उनको अपने राजनीतिक सिद्धांत का महत्वपूर्ण अंग बना लिया था।

किंतु, साधारण अर्थशास्त्र के सिद्धांत में मालथ्यूस ने मिल को उतना प्रभावित नहीं किया था। इस दिशा में उस पर सबसे अधिक प्रभाव

रिकार्डो (Ricardo) का पड़ा था, जो कि मिल का बहुत ही अतरंग और सुहृद था। यह मिल ही की प्रेरणा थी; जिसमे प्रभावित होकर रिकार्डो ने १८१७ ई० में प्रिंसिपल्स आफ पाल्टिकल एकानामी एण्ड टेक्सेशन (Principles of Political Economy and Taxation) नाम की विख्यात पुस्तक प्रकाशित की। यहीं नहीं मिल ही से प्रभावित और अनुप्राणित हो कर सन् १८१९ में संसद का सदस्य भी हो गया था। मिल की एलिमेन्ट्स आफ पालिटिक्ल एकानामी (Elements of Political Economy, १८२१) पुस्तक पूर्णतया रिकार्डो (Ricardo) के सिद्धांतों पर आधारित है। वह स्वयं भी इसको स्वीकार करने में बहुत ही विनम्र है। उसने कहीं भी यह दर्शाने की चेष्टा नहीं की है कि वह कोई मौलिक विचार प्रस्तुत कर रहा है। उसने केवल यही दिखाने की चेष्टा की है कि सर्वसम्मति से स्वीकृत सिद्धांतों और मतवादों के आधार पर साधारण बुद्धि के आदमी को किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए ताकि वे उसे समझ सकें। इस विषय में वह स्वयं लिखता है कि—"मेरे ऊपर किसी भी प्रकार का कलंक नहीं लगाया जा सकता क्योंकि न तो मेरा यह दावा है कि न कोई नई चीज खोज रहा हूँ और न मैंने विषय के विद्वानों को उद्धृत करके उन लोगों के साथ अपने नाम को जोड़ा है जिन्होंने विज्ञान और ज्ञान के क्षेत्र में अपनी ख्याति अर्जित कर ली है।" किंतु, उसकी यह पुस्तक बहुत ही त्रुटिपूर्ण शैली ने लिखी गई है क्योंकि आर्थिक समस्याओं पर बहुत ही स्पष्ट और सुदृढ़ शैली में तार्किक ढंग से लिखना ही उपयुक्त होता है। यदि मिल द्वारा लिखित यह मीमांसा मात्र वाह्य पुस्तक के स्तर की है, जैसा कि उसने स्वयं कहा है तो निश्चय ही उसका यह प्रयास स्पृहणीय है और उसने निश्चय ही साधारण पाठक के समक्ष रिकार्डो के विचारों पर आधारित राजनैतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) को अधिक सुलभ और पठनीय रूप में प्रस्तुत किया है।

३. न्यायशास्त्र और अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Jurisprudence

and International Law)—जिस प्रवृत्ति ने बेन्थम को सुधारवादी कानून को निगमित करने की प्रेरणा शक्ति दी थी; उसी प्रवृत्ति से मिल को भी उस दिशा में कार्य करने की प्रेरणा मिली थी। मिल इस इस विषय में महान विचार रखता था और कन्वेआंसिंग (Conveyancing) के विषय पर एक बृहद् ग्रंथ लिखने की बात सोचा करता था साथ ही वह अंग्रेजी कानून के इतिहास (History of English Law) तथा न्यायशास्त्र(Jurisprudence) की पद्धतियों पर भी विस्तारपूर्वक लिखना चाहता था। अपनी इन योजनाओं के सम्बन्ध में वह बहुधा कहा करता था कि ये वह बृहद् योजनाएँ हैं जो मेरे मस्तिष्क में तैरा करती हैं। किन्तु, इनमें से वह अन्तिम विषय को ही दो प्रामाणिक लेखों द्वारा प्रस्तुत कर सका जो इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (Encyclopaedia Britannica) में जूरिसप्रुडेंस और ला आफ नेशंस (Law of Nations) शीर्षक से छपे थे।

यदि हम न्यायशास्त्र के आवश्यक गुणों पर विचार करें तो हम न्यायशास्त्र को वह अध्ययन मान सकते हैं जो अधिकारों के वस्तुविषय पर प्रकाश डालता है। इसकी विशेषता यह है कि वह मानव-अधिकारों की रचना (Creation of Rights) नहीं करती, अर्थात् इसका सम्बन्ध—अधिकार क्या होने चाहिये और क्या नहीं होने चाहिये—इसके प्रति इसका आग्रह नहीं है। ठीक इसी प्रकार वह अधिकारों के विभाजन सम्बन्धी विषयों से न तो कोई सम्बन्ध रखता है और न उसका विषय-क्षेत्र यह है कि अधिकारों का किस प्रकार विभाजन किया जाय ताकि वह समान रूप से वितरित होकर अधिक से अधिक आनन्द का प्रजनन कर सके। ये समस्याएँ सीधे विधायकों से सम्बन्धित हैं। न्यायशास्त्र का क्षेत्र अधिकारों की सुरक्षा से सम्बन्धित है। फ्रैगमेन्ट आन मैकिनटाश (Fragment on Mackintosh) नामक पुस्तक के एक स्थान पर मिल ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि "न्याय-शास्त्र अधिकारों को जिस स्थिति में वे प्रचलित होते हैं उसी

स्थिति में ग्रहण कर लेता है और इसके बाद वह उन साधनों की खोज करता है जिससे उन अधिकारों की व्यापक रूप में रक्षा की जा सके। अपने अन्वेषणों द्वारा यह स्थापित किया जा चुका है कि इस प्रकार की सुरक्षा के लिए सर्व प्रथम इस बात की आवश्यकता है कि अधिकारों की ठीक-ठीक परिभाषा बन सके। दूसरे, यह कि वे आचरण जो अधिकार के स्वत्व की हत्या करते हैं, उनको दण्ड द्वारा रोक देने की चेष्टा करनी चाहिये। तीसरे, यह कि कुछ व्यक्तियों को इस बात के लिए नियुक्त करना चाहिये जो अधिकार से सम्बन्धित समस्त समस्याओं का निराकरण कर सकें और उन पर किये गये हस्तक्षेपों को रोक सकें। चौथे, यह कि जो अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के साथ उसे मिला हुआ है, उसके व्यवहार करने की विधि एवं उनका सैद्धांतिक प्रारूप नियमों की उपादेयता के साथ स्थापित कर सकें। अधिकारों की परिभाषा और उनके अपराधों से संबन्धित दण्ड, न्याय-मंण्डलों की रचना-विधि, उनके कार्य करने की गति आदि ऐसे विषय हैं जिनके अन्तर्गत न्यायशास्त्र की रचना की जानी चाहिए।"

चूँकि, कानून की दीवानी और फौजदारी (Civil and Criminal) दो शाखाएँ हैं—अस्तु दीवानी-संहिता का विषय-क्षेत्र है कि वह अधिकारों की व्याख्या प्रस्तुत करे और दण्ड-संहिता (Penal code) का यह विषय-क्षेत्र है कि वह अपराधों की परिभाषा प्रस्तुत करके उनके आचरणों को आधारित करें। इसी प्रकार विधि-संहिता (Code of Procedure) का विषय-क्षेत्र न्यायालयों की रचना, न्यायाधीशों के कार्य-व्यापार की विधियों एवं स्वत्व और गवाही आदि विषयों के नियम निर्धारित करना है। मिल ने इन विभिन्न विषयों को अपने न्यायशास्त्र सम्बन्धी लेख में विस्तारपूर्वक लिया है और उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है। यद्यपि उसकी व्याख्या कई अर्थों में नई और सशक्त है, किन्तु वह किसी भी अर्थ में बेन्थम द्वारा निर्धारित सीमाओं के आगे विकसित नहीं हो सका है।

किन्तु, जहाँ मिल ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law)

की व्याख्या प्रस्तुत की है वहाँ उसका कृतित्व सर्वथा पृथक है और उस दिशा में मिल ने निश्चय ही स्पष्ट और स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत किये हैं।

यह बात स्पष्ट है कि कानून का प्रयोग जब व्यक्तियों या समुदायों के सन्दर्भ में होता है तो उसका प्रासंगिक अर्थ उससे भिन्न होता है, जब कि वह राष्ट्रों के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है। अभिव्यक्तियों और समुदायों के प्रसंग में कानून के साथ एक प्रशासक शक्ति का भी ज्ञान होता है जो कानून को लागू करती है और यह देखती है कि वह समान रूप से आचरित होकर प्रस्तुत हो। यह अधिकार उस प्रशासक शक्ति अथवा शासन-सत्ता को पूर्ववत्त रूप में प्राप्त होती है और उसके अधिकार को प्रति जनता कभी भी स्वयं मानती है। अर्थात् इस साधारण स्थिति में गवर्नमेन्ट पीड़ा और दण्ड-प्रतारणा के माध्यम से निर्धारित कानूनों को मनवा लेती है। किंतु, हम विभिन्न राष्ट्रों के व्यावहारिक सम्बन्धों और उनके संघर्षशील हितों पर विचार करते हैं तब सर्वथा दूसरी स्थिति पैदा हो जाती है। प्रस्तुत स्थिति में कोई भी ऐसी सर्वमान्य विश्वव्यापक केन्द्रीय शक्ति नहीं है (जैसा कि मिल के समय में नहीं थी) जो दो विरोधी देशों में समान रूप से मिल सके और वे देश उसके समक्ष स्वतः अपनी सत्ता समर्पित कर सकें। मिल का यह विचार था कि ऐसा होना सम्भव भी नहीं है कि सब राष्ट्र आपस में इस प्रकार मिल सकें, क्योंकि विभिन्न राष्ट्र कभी भी बिना झगड़ा किए आज तक नहीं मिल पाये हैं। और तब जब तक कोई भी इस प्रकार की सर्व स्वीकृत शक्ति अन्तिम निर्णय देने की क्षमता के साथ प्रस्तुत नहीं होती, तब तक सामूहिक शक्ति (Punitic Power) का कोई भी ऐसा स्रोत नहीं बन सकता, जिसके समक्ष किसी भी आततायी राष्ट्र के विरुद्ध कोई शिकायत प्रस्तुत की जा सके और उसके शत्रुतामय कर्मों पर कोई नियन्त्रण प्रस्तुत किया जा सके। यदि ऐसा अधिकार स्थापित हो सके जो समस्त राष्ट्रों पर अपने निर्णय लागू कर सके तो भी उस सत्ता का रूप और उसकी प्रकृति स्पष्टतः ऐसी नहीं

होंगी जैसे कि किसी भी राष्ट्र के कानून के प्रशासन और अनुकरण सम्बन्धी आचरण होते हैं, और तब प्रश्न यह उठता है कि उसकी प्रकृति किस प्रकार की होगी। क्या वह सार्वजनिक सत्ता (Popular Sanction) के रूप में प्रस्तुत होगी? अथवा जनोद्‌गार (Public Sentiment) के रूप में प्रस्तुत होगी या वह साधारण जनमत (General opinion) के आधार पर एक विशेष प्रकार का कामन वेल्थ (Commonwealth) होगा जो एक दूसरे को नियन्त्रित तो करेगा किन्तु बिना दबाव के रूप में ऐसा कुछ नहीं करायेगा जो किसी भी रूप में कोई दूसरा उससे नहीं करा सकता अथवा कोई भी सभ्य देश दूसरे के साथ नहीं व्यवहृत कर सकता। इस प्रक्रिया में वह जनमत जो कि वैयक्तिक स्तर पर मानवतावाद की प्रार्थनाएँ करता रहता है और उसके चरित्र और आचरण को गढ़ने का प्रयास करता रहता है। इस अन्तर्राष्ट्रीत सन्दर्भ (International context) में बहुत ही सशक्त और प्रभावपूर्ण रूप में कार्य कर सकता है। कोई भी राष्ट्र चाहे जितना शक्तिवान क्यों न हो, किसी भी ऐसी नीति का पालन नहीं कर सकेगा जो संसार के सभ्य लोगों की भावनाओं से विरुद्ध और उनके हित में नहीं होगी। यह स्थिति तो उस देश में और भी नहीं उत्पन्न हो सकेगी जिसमें प्रजातान्त्रिक विधान के आधार पर शासन चल रहा होगा प्रस्तुत संदर्भ में वर्णित अन्तिम विशेषता बहुत ही महत्व-पूर्ण है और इसको ध्यान में रखना चाहिये।

इस प्रकार उन आदर्शों और नियमों को जिन्हें हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रूप में जानते और स्वीकार करते हैं यद्यपि उनका निर्माण विचित्र परिस्थितियों में हुआ है और उनका आरोप भी विचित्र लगता है, फिर भी वह मिल के मतानुसार सर्वथा बुरे रूप में नहीं हो सकता। वे सम्भ्रान्त व्यक्तियों के सम्मान द्वारा संगठित होती हैं और उनकी मर्यादा द्वारा बँधी रहती हैं। उनका प्रभावपूर्ण कार्य समाज के व्यापक जनमत द्वारा प्रभावित होती हैं।

प्रस्तुत, अन्तराष्ट्रीय सीद्धताओं (International Code) के

व्यवहार में दो बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है : (अ)—न्याय संहिताओं (Code of Laws) पर ध्यान, (ब)—एक ऐसे मण्डल (Tribunal) की स्थापना जो उन नियमों की सुव्यवस्थित कार्यविधि के आधार पर प्रशासित कर सके। अब प्रश्न यह है कि क्या यह सब समान हो सकता है ? इस विषय पर इसकी सम्भावनाओं को स्वीकार करते हुए मिल ने निश्चित उत्तर दिये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की संहिता (A Code of International Laws) का अर्थ है—राष्ट्रों के अधिकारों को निर्धारित करना। मिल के मतानुसार इन अधिकारों को अधिकांश रूप में नियोजित किया जा सकता है। प्रमाण के लिए हम यह कह सकते हैं कि शान्ति के समय में प्रत्येक राष्ट्र का यह अधिकार है कि वह अपने सीमा-क्षेत्र में नदियों के जल का प्रयोग कर सके और व्यापार के लिए विस्तृत समुद्रों का प्रयोग कर सके। प्रत्येक देश को सामुद्रिक यातायात (Oceanic Communication) की स्वतन्त्रता समान रूप से मिलनी चाहिए और प्रत्येक को इस अधिकार का समान भागी होना चाहिए। वस्तुतः, राष्ट्रों के अधिकार ठीक उसी आधार पर निर्धारित होने चाहिए जिस आधार पर कि व्यक्तियों के अधिकार निर्धारित होते हैं अर्थात् उनका निर्धारण मूलभूत स्थानौचित्य (Original Occupancy), शर्तनामों के आधार पर हस्तान्तरण एवं विजय-प्राप्ति पर होना चाहिए। अस्तु, राष्ट्र के अधिकार भी उसी तरह समाप्त किये जा सकते हैं जिस प्रकार कि व्यक्तियों के अधिकार उनकी इच्छाशक्ति और स्थान-परिवर्तन के आधार पर होते हैं।

किंतु, प्रश्न यह है कि युद्ध के समय राष्ट्रों के अधिकार कैसे निर्धारित हों। यह प्रश्न सदैव अपनी जटिलताओं के साथ प्रस्तुत होता रहा है। मिल का इस सम्बन्ध में यह निश्चित मत था कि यह अधिकार राष्ट्रों को उनकी व्यापार सम्बन्धी स्वतन्त्रता (Free Operation of Commerce) से प्राप्त होते हैं। इसीलिए वह युद्ध के समय में व्यक्तियों

के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को व्यापक रूप में हर जगह प्रयोग किये जाने के पक्ष में था और इसीलिए उसने जल-डकैती (Piracy) का विरोध भी किया था; क्योंकि वह यह मानता था कि वैयक्तिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को जल मार्ग से अपने माल-असबाब को ले जाने की सुविधा मिलनी चाहिए। इस प्रकार उसने यह सोचा था कि जल-मार्ग (Marine Traffic) से निष्पक्ष (Neutrals) लोगों को यदि व्यापार के अधिकार मिल जायँगे तो इस समस्या का काफी निराकरण हो जायगा। वह यह मानता था कि जिस प्रकार किन्हीं कारणों से युद्ध छेड़ा जा सकता है, ठीक उसी प्रकार किन्हीं दूसरे कारणों से उस युद्ध को रोका भी जा सकता है। यदि युद्ध का लक्ष्य यह है कि आघात (injury) का बदला दिया जाय और भविष्य के आघातों से बचने की सुरक्षा प्राप्त की जाय तो प्रत्येक युद्ध को इस लक्ष्य की पूर्ति के बाद तत्काल ही समाप्त हो जाना चाहिये। युद्ध के विषय को जिस प्रकार मिल ने सुलझाने की चेष्टा की थी और जिस प्रकार उसने संग्रामशील राष्ट्रों के अधिकारों और दायित्वों की व्याख्या की थी, वह निश्चय ही बहुत सशक्त रूप में प्रस्तुत हुई हैं। किन्तु, उसके विचार अपनी समकालीन परिस्थितियों में सीमित हैं और आज के संदर्भ में आज की परिस्थितियों के अनुकूल उनमें संशोधन प्रस्तुत करके उनको विकसित करना चाहिये। किन्तु, एक दूसरा प्रश्न यह है कि उस स्थिति में जब कि कोई राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा के रूप में स्वार्थपूर्ण दृष्टि से किसी दूसरे पर हावी होना चाहता है तो ऐसी स्थिति में क्या किया जाना चाहिये और तब प्रस्तुत संदर्भ में इस विषय पर पुनः विचार करना आवश्यक हो जाता है।

निश्चय ही मिल को अन्तर्राष्ट्रीय मण्डल की स्थापना और उसके द्वारा प्रभावपूर्ण विधियों के माध्यम से अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के प्रशासन में कोई कठिनाई नहीं अनुभव होती थी। वह यह मान कर चलता है कि प्रस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय मण्डल सब को स्वीकार होगा। इसके माध्यम से वर्तमान कठिनाइयाँ ही नहीं हल होंगी, वरन् व्यापक स्तर पर

राजनैतिक नैतिकता (Political Morality) भी व्यवहृत हो सकेगी। किंतु, कठिनाई यह है कि विभिन्न राष्ट्र कैसे एक दूसरे के समक्ष आत्म-समपर्ण कर सकेंगे। यह एक ऐसी समस्या है जो आज भी हमारे सामने उतनी ही जटिल है जितनी कि मिल के सामने जटिल थी। मिल ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि यह स्थापना साधारण जनमत के आधार पर ही प्रतिष्ठित हो सकती है। यदि सुचारु रूप से सब राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक ऐसा मण्डल बनाया जाय और वह उन समस्त विवादों को निष्पक्ष रूप से निर्णीत करे जो कि उसके समक्ष प्रस्तुत हों और यदि उनके निर्णयों को और कार्य-विधियों को सामान्य रूप से संसार के सभ्य देशों में सार्वजनिक आधार पर प्रसारित किया जाय तो इस प्रकार के संगठन की उपयोगिता और उसकी शक्ति बड़ी आसानी से सबों को मान्य और स्वीकृत होगी। यह भी स्पष्ट हो जायगा कि बहुत सी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ इस प्रकार के मण्डलों के समक्ष अपील द्वारा सुलझाई जा सकती हैं और इस प्रकार का सुलझाना निश्चय ही सिरफिर तलवार की शक्ति (Hot-headed Arbitrament of Sword) के प्रयोग से कहीं अच्छा होगा। इसमें सन्देह नहीं कि धीरे-धीरे समस्त राष्ट्रों में एक सशक्त जनमत (Powerful Public Opinion) इस पक्ष में विकसित किया जा सकता है कि दो विरोधी राष्ट्रों का संघर्ष पञ्चायत द्वारा आसानी से निर्णीत हो सकता है और उसी जनमत के बल पर यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि वे विरोधी राष्ट्र जो इस अन्तर्राष्ट्रीय मण्डल के समक्ष अपनी शिकायतें नहीं रखना चाहते, वे निश्चय ही गलत तरीकों से युद्ध करना चाहते हैं। यह बात तो निश्चय ही सत्य है किन्तु उन देशों में यह विचार कैसे आचरित हो सकेंगे जो कि जनमत को घृणात्मक दृष्टि से देखते हैं? मिल के विचारा-नुसार यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय मण्डल का निर्णय जनमत को घृणा करने वाले राष्ट्रों को प्रभावित नहीं करेगा, फिर भी उनका यह प्रयास व्यर्थ नहीं होगा। इससे दूसरे राष्ट्रों को आघात भी नहीं पहुँचेगा। "यदि वह निर्णय अन्याय के विरुद्ध सुरक्षा के भाव उत्पादित कर सकें और राष्ट्रीय

समुदायों (Community of Nations) में पारस्परिक रूप से यह सिद्ध कर सकेंगे कि किसी भी हठी राष्ट्र के आचरण के विरुद्ध भी इस प्रकार की कार्रवाई की जा सकती है, तो वह स्वयं अपने आचरण की खोजबीन करेंगे। कोई भी निर्णय जब इस प्रकार के किसी अन्य निर्णय द्वारा गम्भीरता के साथ दिया जायगा तो वह मनुष्य की कल्पना को सशक्त ढंग से उत्तेजित करेगा और मनुष्य जाति के अपमान की भावना की ओर निश्चय ही ध्यान आकर्षित करायेगा ?" इस प्रकार की नैतिक भावना (Moral Sentiment) को धीरे-धीरे सशक्त रूप से संगठित करने एवं सशक्त राष्ट्रों द्वारा किये गये अन्यायों पर सशक्त नियन्त्रण करने की बात पर मिल का दृढ़ विश्वास था। वह यह चाहता था कि राष्ट्रों के कानूनों से सम्बन्धित ऐसी पुस्तक बनाई जाय और उसमें अन्तर्राष्ट्रीय मण्डल (International Tribunal) के निर्णयों के उद्धरण इस प्रकार दिये जायँ कि उनका प्रशिक्षा प्रत्येक स्कूल में हर व्यक्ति की शिक्षा का अंग बना कर प्रस्तुत हो। इससे बड़ा हित होगा।

मिल के पास वह दृष्टि (Vision) भी थी जो विश्व के बन्धुत्व (Amity) भाव के आधार पर वैयक्तिक स्वार्थों को सामूहिक हित के लिये उत्सर्गित हो जाने में विश्वास करती थी। यही कारण है कि वह यह मानता था कि प्रत्येक राष्ट्र में बिना अपने पड़ोसी राष्ट्र के क्षेत्र में हस्तक्षेप किये राष्ट्रीय भावना विकसित की जा सकती है और यह आशा की जा सकती है कि वे अपने पड़ोसी राष्ट्र के देशीय क्षेत्र पर किसी भी प्रकार का आक्षेप नहीं करेंगे। इन समस्त चिन्तनों में उसके समक्ष उपयोगितावाद का सिद्धांत ही प्रधान रूप से कार्य करता था। इसीलिए वह निश्चित रूप से उन सब चीजों की निन्दा करता था, जो मात्र राष्ट्रीय स्तर पर वैयक्तिक स्वार्थों से अनुप्राणित होती थी, अथवा जिनमें सामान्य रूप से सभी राष्ट्रों के हित की बात नहीं होती थी। वह कम से कम सभ्य राष्ट्रों के, जिसका कि विस्तृत अर्थ किसी न किसी रूप में असभ्य राष्ट्रों तक भी पहुँचता था, हित का इच्छुक

था। १९वीं शताब्दी में ऐसी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ (Trends) थीं जो इस दृष्टि को कार्यान्वित करने में सहायक हो सकती थीं। देश के वैज्ञानिक आविष्कार और मनुष्य की व्यावहारिक आवश्यकताओं के लिए उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया अद्वितीय योग जिसका प्रमाण हमें रेलवे, तार, और समुद्रयात्रा तथा इसी प्रकार के अन्य आविष्कारों द्वारा मिलता है, मूलतः देश और काल के विस्तार को समाप्त करके संसार के समस्त मानव वर्ग को ऐसे सम्पर्क में [व्यवसायिक (Commercial), राजनैतिक (Political), बौद्धिक (Intellectual) और सामाजिक (Social) सम्पर्क के रूप में] ला रही थीं, जो न तो पहले कभी देखा गया था और सुना गया था। यह सम्पर्क मानवानुभूति के व्यापक सम्मिश्रण और भावुक कोमलता पर आधारित थी। इसीलिए इस बात की सम्भावना अधिक थी, कि लोग एक दूसरे से परिचित होकर पारस्परिक सहानुभूति (Mutual Sympathy) के आधार पर स्थायी सम्बन्ध स्थापित कर सकने में सफल हों। यह प्रवृत्ति बीसवीं शताब्दी के प्रथम वर्ष तक कार्य करती रही है। ऐसा लगता था जैसे सभ्य संसार इसके लिए प्रस्तुत है और उसके अन्दर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रस्तुत मतभेदों और द्वन्द्वात्मक समस्याओं को पञ्चायत द्वारा सुलझाने की सदिच्छा, अनुचित और विवेकहीन द्वन्द्वात्मक संघर्षों की अपेक्षा, अधिक थी। उपयोगितावादी (Utilitarian) सिद्धांत बहुत प्रभावपूर्ण ढंग से अपने परिष्कृत रूप में कार्यशील थे। मानव जाति के व्यापक हित का विचार राष्ट्रों एवं व्यक्तियों को सूत्र में बाँधने की चेष्टा कर रहा था यह चेष्टा एक व्यापक रूप में गतिशील हो रही थी। इसी के परिणामस्वरूप हेग (Hague) सम्मेलन और पैलस आफ पीस (Palace of Peace) के आन्दोलन समस्त आशाओं के साथ प्रस्तुत भी हुए। सन् १९१२ में संसार की समस्त महान शक्तियाँ बालकन वार के सुरुचिपूर्ण समझौते से प्रसन्न होकर इस निष्कर्ष पर पहुँच गई थी कि योरप की शान्ति स्थापित करने के लिए सामुदायिक स्तर पर मिल का अनुसरण करना बहुत ही श्रेयस्कर हो सकता है। लार्ड हाल्डेन

जो उस समय ग्रेट ब्रिटेन के चांसलर थे, उन्होंने माण्ट्रियल में पहली सितम्बर को अमेरिकन बार एसोसियेशन के समक्ष भाषण देते हुये अटूट आशा और आत्म-विश्वास के साथ सामूहिक पद्धति (Group System Scheme) की बात प्रस्तुत की थी। इस पद्धति का आधार राष्ट्रों के सामूहिक सदाशयता पर आधारित पर की गई थी। इसका अर्थ यह था कि ऐंग्लो सैक्सन अथवा अंग्रेजी भाषा-भाषी लोग जो कि यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका, कैनाडा और ग्रेट ब्रिटेन के निवासी हैं उनको एक सामूहिक परिवार के रूप में एक दूसरे का ध्यान रखना चाहिये, एवं एक दूसरे के हितों को सहानुभूत्यात्मक दृष्टि से देखते हुए एक ऐसे साधारण लक्ष्य का उद्घाटन करना चाहिये, जिसके आधार पर यह समस्त राष्ट एक सामूहिक रूप में रह सकें; एक संगठित शक्ति के रूप में कार्य कर सकें; और वैधानिक स्तर पर न सही, नैतिक स्तर पर किसी भी राष्ट्रीय संकट के समय एक जन-शक्ति के रूप में अपने उद्गारों और भावों को संगठित होकर व्यक्त कर सकें।

किन्तु वर्तमान योरोपियन युद्ध ने उस कल्पना को खंडित कर दिया। निश्चय ही उसके खण्डन से बहुत से शान्तिप्रिय विचारकों को अकथनीय चोट भी पहुँची। यदि जनरल फ्रेडरिक वान बर्नहार्डी (General Friedrich von Bernhardi) और ट्रीशके (Treitschke) की बातों को जनमत का प्रतिनिधि स्वर मान लिया जाय तो आज की वर्तमान स्थिति इस प्रकार होगी। पहला यह कि कोई भी राष्ट्र नैतिकता के उन सिद्धांतों से ठीक उसी प्रकार नहीं बाँधा जा सकता जिस प्रकार कि एक व्यक्ति बाँधा जाता है। क्योंकि जब नागरिकों का समूह एक जाति के रूप में संगठित होता है तो घटनाएँ इस प्रकार से घटित होती हैं कि देश-प्रेम की भावना तथा फादरलैण्ड की अनुभूति उनको इतना विवश कर देती है कि वे आधारभूत नैतिक सिद्धांत भूल जाते हैं। उस स्थिति में ऐसे समूह का प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य से रागात्मक सम्बन्धों द्वारा बँध जाता है। इन्हीं आधारों पर

एक पड़ोसी दूसरे पड़ोसी से उतनी ही भावुकता के साथ बँध जाता है। दूसरा यह कि एक राष्ट्र का दिया वचन उसके द्वारा हस्ताक्षर किये हुए संधिपत्र और शर्तनामे कोई स्थाई बन्धन नहीं कर सकते। वे केवल कोरे कागज के समान होते हैं जिसे कोई भी राष्ट्र जब चाहे तब अपनी सुविधानुसार फाड़कर टोकरी में फेंक सकता है। उसके अनुसार शक्ति ही अधिकार है—का सिद्धांत सर्वोच्च है। यह मैकियाविलयन (Machiavellian) नैतिकता आज के सभ्य, आत्मनिष्ठ बीसवीं सदी के लिए अग्राह्य है। प्रस्तुत स्थिति से यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो जनमत और न मित्रता अथवा सदाशयता एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से बाँध सकती है और न साधारण स्तर पर राष्ट्रों में यह सद्भावना उस समय कार्य ही करती है जब कि वह स्वार्थरत स्थिति में डूबा हुआ होता है। इसलिए प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय मण्डल के पीछे कुछ जन-शक्ति भी होनी चाहिये जिसके माध्यम से वह अपनी इच्छा शक्ति को कार्यान्वित करा सकें और शांति के इच्छुक लोगों की महत्वाकांक्षाएँ विश्व-कल्याण के लिए स्थापित कर सकें। आज की स्थिति में तो कोई भी व्यक्ति मात्र इस सीमा तक आशान्वित हो सकता है कि संभव है कालांतर में कभी भावनाओं की तिक्तता से ऐसी भावना उपजे जो मानव जाति के हित के लिए प्रजातीय अभिमान और शारीरिक शक्ति को त्याग कर भ्रातृभावना और एकता के आधार पर समस्त मानव-समूह में एकता स्थापित करके उनकी शक्तियों को कुशल आचरण की ओर प्रेरित कर सकें।

———

अध्याय ८

जान स्टुअर्ट मिल

[उसकी जीवनी और कृतित्व : राजनैतिक—तर्कशास्त्र, नैतिकशास्त्र]

जीवनी और कृतित्व—जेम्स मिल के बच्चों में जान स्टुअर्ट मिल सबसे बड़ा था। वह २० मई १८०६ ई० में लन्दन में पैदा हुआ था और ८ मई १८७३ ई० में फ्रांस में एविगनन (Avignon) नामक स्थान में मृत्यु पाई थी। जीवन के प्रारम्भिक काल में उसे अपने पिता की संगरक्षिता में ऐसी शिक्षा पद्धति के अनुसार शिक्षा दी गई थी जिसे प्रायः सभी जानते हैं। इसलिए इसका संक्षिप्त वर्णन ही यहाँ पर्याप्त होगा। तीन साल की अवस्था में उसे ग्रीक भाषा की शिक्षा दी गई थी और आठ साल की आयु तक उसे यही शिक्षा अंग्रेजी भाषा और गणित में साथ-साथ मिलती रही। वह जीवन के प्रारम्भ में ही ग्रीक विचारों एवं प्लेटो के वाद-विवाद सम्बन्धी तर्क ज्ञान से अवगत हो चुका था। जब वह आठ वर्ष का हुआ तो ग्रीक भाषा के साथ-साथ लैटिन की भी शिक्षा दी गई और राजनैतिक शास्त्र से काफी परिचित हो चुका था। ये विषय काफी कठिन थे और प्रौढ़ आयु वालों के लिए उपयुक्त समझे जाते थे। इस अवस्था तक उसका प्रधान शिक्षक उसका पिता ही था जो अत्यधिक विचार का था। श्रमशील, नियमित एवं कुशल होने के नाते दक्षता के साथ यह निर्णय करता था कि मिल को किसकी शिक्षा दी जाय अथवा किसकी न दी जाय। उसने जान स्टुअर्ट मिल को सदैव अपने साथ रखा और वह सदैव उसके हर कार्य-क्षेत्र में यहाँ तक कि घूमने-टहलने और बातचीत करने और अध्ययन में साथ रहता था। इस प्रकार उसने

न केवल जान स्टुअर्ट मिल की देखभाल ही की वरन् सुकरात की पद्धति के अनुसार वाद-विवाद एवं उद्देशात्मक पद्धतियों द्वारा धीरे-धीरे उसकी मानसिक शक्तियों को इस प्रकार विकसित किया जो अपने में अद्वितीय थी। उसने जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) को जीवन के प्रारम्भ में ही एक मार्नीटर के रूप में परिवार के अन्य छोटे बच्चों को शिक्षा देने का भार दे दिया था। इस प्रकार स्टुअर्ट मिल का बौद्धिक विकास पठन-पाठन के माध्यम से विविध विषयों में प्रगाढ़ एवम् ज्ञान-सम्पन्न होता रहा। इन सब का परिणाम यह हुआ कि बहुत ही अल्प आयु में जान स्टुअर्ट मिल की अकाल परिपक्वता की चर्चा हर जगह होने लगी।

जब वह चौदह वर्ष का हुआ तो उसके जीवन को एक नया मोड़ दिया गया। एक वर्ष के लिये उसे सर सैमुअल बेन्थम (Sir Samuel Bentham) (जेरमी बेन्थम के भाई) के पास फ्रांस में अतिथि बनाकर भेज दिया गया। यहाँ वह टौलूस और मांटपेलियर तथा पेरिनीज़ जैसे स्थानों पर भ्रमण के लिये भेजा गया। इस प्रकार उसकी प्रकृति को एक विशिष्ट वातावरण में रहने का अवसर मिला। उसने केवल ज्ञान ही नहीं अर्जित किया वरन् फ्रेंच भाषा के विभिन्न प्रयोगों में एवं राजदर्शन में भी उसे काफी निपुणता प्राप्त हो गई। इस भ्रमण ने शिक्षा के साथ-साथ उसकी रुचियों और प्रवृत्तियों को ऐसा प्रभावित किया कि भविष्य में चल कर वह प्रकृति एवं वनस्पतिशास्त्र, जीवशास्त्र का बड़ा गहरा भक्त बन गया। उसमें यात्रा सम्बन्धी रुचियाँ इतनी प्रगाढ़ मात्रा में विकसित हुईं कि वह जीवन भर उससे प्रभावित रहा।

जब वह इंगलैण्ड वापस आया उसके विचारों को एक दूसरी उत्तेजना मिली। उसने अपने पिता की छत्रछाया में बेन्थम के नैतिकशास्त्र एवं राजनैतिक विचारों का अध्ययन फ्रांसीसी भाषा की कठिन शैली में अनूदित पुस्तकों के माध्यम से ठीक उसी प्रकार ग्रहण किया जैसे वह स्वयं जन्मजात फ्रांसीसी व्यक्ति हो। इस अनुभव के सम्बन्ध में जान

स्टुअर्ट मिल ने स्वयम् लिखा है कि—"इस पुस्तक का अध्ययन मेरे जीवन की महान् घटनाओं में से एक है। इससे मेरे मानसिक विकास के इतिहास में एक निश्चित मोड़ आया था।" इस अनुभव से सम्प्रक्त रोमन ला (Roman Law) के अध्ययन से भी उसकी मानसिक शक्ति को विकास एवम् क्षमता प्राप्त हुई। 'जान आस्टिन की संरक्षणता में अध्ययन करने के नाते उसकी दृष्टि और भावानुभूति को बड़ी प्रेरणाएँ मिलीं।

सोलह साल की आयु में ही उसने समान विचारों के नवयुवकों की एक ऐसी संस्था बनाई थी जिसमें बेन्थम के सिद्धान्तों के आधार पर राजनीति और नीतिशास्त्र के विषयों पर विचार-विमर्श होते थे। इस संस्था का नाम था यूटिलिटेरियन सोसाइटी (Utilitarian Society)। यह सोसायटी अपनी स्थापना काल से साढ़े तीन वर्ष बाद तक जीवित रही। कुछ दिनों बाद मिल ने एक दूसरी संस्था की सदस्यता ग्रहण की जिसका नाम था स्पेकुलेटिंग डिबेटिंग सोसायटी (Speculating Debating Society)। वह एक और संस्था का सदस्य था जिसकी बैठक जार्ज ग्रोट के निवास स्थान पर हुआ करती थी। इस सोसायटी में राजनैतिक, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान आदि विषयों पर विचार-विमर्श हुआ करते थे। इन दोनों संस्थाओं ने उसके विकास में बड़ा योगदान दिया था। बाद में वह दी पोलिटिकल इकोनोमी-क्लब (The Political Economy Club) का सदस्य हो गया। इस संस्था में वह तत्कालीन प्रमुख अर्थशास्त्रियों के संसर्ग में आने के कारण समकालीन राजनैतिक विचार-धारा से विशेष रूप में प्रभावित हुआ था।

१८२३ ई० में १७ साल की आयु में अपने पिता की सहायता से ईस्ट इंडिया कम्पनी के कार्यालय के आफिस आफ दी इक्ज़ामिनर आफ कारेसपोन्डेन्स (Office of the Examiner of Correspondence) में नौकरी कर ली थी। इस संस्था का संचालक स्वम् उसका पिता था। इस कार्यालय में उसका कार्य बाहर भेजे जाने वाले आलेखों को प्रस्तुत करना था। इस आलेखन कला में वह बहुत ही निपुण माना जाता था।

जब ईस्ट इन्डिया कम्पनी को समाप्त करने की बात चल रही थी तो उसके सुपुर्द तत् सम्बन्धी पार्लियामेंट में प्रस्तुत होने वाले प्रस्ताव को लिखने का कार्य दिया गया था। इस प्रस्ताव का नाम पेटिशन टू पार्लियामेन्ट (Petition to Parliament) था। यह आलेख आज भी बहुत ही सशक्त आलेख माना जाता है। इस आलेख के विषय में अर्ल ग्रे (Earl Gray) ने यह घोषित किया था कि यह राज्य द्वारा प्रस्तुत किये गये आलेखों में से सबसे अधिक विद्वतापूर्ण आलेख है। इस आलेख की शैली और शिल्प में बौद्धिक प्रतिभा तथा तार्किक शक्ति अद्वितीय है।

ईस्ट इन्डिया कम्पनी के समाप्त होने के बाद भी वह दो वर्ष तक इस कार्य को करता रहा था।

एक युवक के रूप में मिल निश्चय ही बड़ा शक्तिवान् व्यक्ति था। किन्तु बेन्थम के विचारों को प्रचारित करने एवम् क्रांतिकारी राजनीति के समर्थन करने में भी वह निश्चय ही बड़ा उत्साही और असंतुलित हो जाता था। उसकी प्रथम साहित्यिक कृतियाँ वेस्टमिनस्टर रिव्यू (Westminster Review) में प्रकाशित हुए थे। इन्हीं स्तम्भों में उसने अपने लेखों द्वारा अपनी उस विद्वता और प्रतिभा का भावी रूप प्रस्तुत किया था जिसकी चर्चा उस समय बड़े जोरों में थी। दर्शन और राजनीति के क्षेत्र में उसके विचारों का निश्चित प्रभाव पड़ा था। १८२६ ई० में उसकी मानसिक गति में एक संकट उत्पन्न हो गया था। यह संकट उसकी अस्वस्थता के कारण उत्पन्न हो गया था। इन दिनों वह बहुत अस्वस्थ हो गया था और एक विशेष प्रकार की मानसिक उलझाव एवं कृत्रिमता में उसकी समस्त प्रतिभा दब गई थी। यह सब इसलिए हुआ क्योंकि अधिक परिश्रम करने के नाते एवं अत्यधिक विचारशीलता के नाते उसकी सारी मानसिक स्थिति भ्रांतियों और विकृतियों की शिकार हो गई थी। इसका दूसरा कारण यह भी था कि जिस प्रकार की रागहीन (non-emotional) प्रशिक्षा उसे उसके पिता द्वारा मिली थी उससे उसकी वैयक्तिक रागात्मक शक्तियाँ

दुर्बल हो गई थीं। काफी दिनों बाद जब उसने वर्ड्सवर्थ और कालरिज के साहित्य को पढ़ना प्रारम्भ किया तब उसकी उन दबी रागात्मक अनुभूतियों को नया भाषान्तरण क्षेत्र मिला। प्रस्तुत परिधियों ने उसकी प्रकृति और मानसिक विचारधारा में क्रांतिकारी परिवर्तन पैदा कर दिये थे, जिनके कारण उसका व्यक्तित्व सर्वथा नये मानव स्वत्व के साथ गहरी सहानुभूति और बौद्धिक दृष्टिकोण द्वारा प्राप्त तीक्ष्ण धारणा-शक्ति और मानव आवश्यकताओं की उपयोगिता से युक्त होकर प्रस्तुत हुआ था। उसकी अनुभूतियों में रागात्मक अनुभूतियों एवं बौद्धिक शक्तियों को समान रूप से विकसित करने का आग्रह वर्त्तमान था। इन समस्त स्थितियों ने इसके विचार और व्यक्तित्व को अधिक व्यापक स्तर पर विकसित कर दिया। इस आधारभूत विकास को उसने स्वयं अपनी दार्शनिक कृतियों में महत्वपूर्ण परिवर्त्तन के नाम से स्वीकार किया है। इन परिवर्त्तनों का प्रभाव उसके भावी दर्शन पर यह पड़ा कि यद्यपि वह अपने पिता और बेन्थम द्वारा प्रतिपादित उपयोगिता के सिद्धान्तों को स्वीकार करता था फिर भी वह बेन्थमवाद के विभिन्न परीक्षण और विवेचन विधियों को सर्वथा रूढ़ियात्मक रूप में नहीं देता था वरन् विभिन्न पक्षों से उनमें परिवर्त्तन करना चाहता था। अपने बेन्थम और काल्पनिक सम्बन्धी लेख (जो कि उसके डिज़र्टेशन्स और डिसकशन्स नामक लेख में उद्धृत हुए हैं) में उसने बड़ी उग्रता के साथ अपना दृष्टिकोण रखने का प्रयत्न किया है और निश्चय ही उसके पढ़ने से ज्ञात होता है कि वह इस दिशा में बहुत आगे बढ़ चुका था। इस दृष्टिकोण के विकास ने उसके जीवन में काफी परिवर्त्तन प्रस्तुत कर दिये थे, यहाँ तक कि एक बार जब यह समस्या उठी कि बेन्थम के विचारों को प्रतिपादित करने वाला कौन सा उसका शिष्य अधिक प्रतिभा-शाली है तो उसने कहा था कि 'मैं उस पीटर की भाँति हूँ जिसने अपने विधाता को भी त्याग दिया है।'

उसके जीवन में परिवर्त्तन आने का दूसरा मुख्य कारण जो कि बौद्धिक सृजनात्मकता की दृष्टि से बहुत ही स्वस्थ और सौभाग्यशाली माना

जा सकता है वह मिसेज़ टेलर (Mrs. Taylor) का प्रभाव था जिनसे कि १८५१ ई० में उसने विवाह करके उनकी समस्त बौद्धिक प्रतिभा और व्यक्तित्व को आत्मसात कर लिया था। यद्यपि उसने मिसेज टेलर के विषय में बहुत ही प्रशंसात्मक रूप में प्रशस्ति गायन किया है और कहीं-कहीं अतिशयोक्ति के रूप में भी उसकी गुणों की प्रशंसा की है फिर भी इस बात में कोई संदेह नहीं है कि उसने मिल के विचारों को काफी सीमा तक अपने प्रथम परिचय के साथ ही प्रभावित किया था और इस सम्बन्ध में यह मानना होगा कि उसके व्यक्तित्व के कारण मिल के विकास में और चिन्तन में बड़े महत्वपूर्ण अन्तर प्रस्तुत हुए हैं।

१८३४ ई० से १८४० ई० तक सर विलियम मोल्सवर्थ द्वारा संचालित दी लंदन रिव्यू (जो बाद में दि लन्दन एण्ड वेस्टमिनस्टर रिव्यू के नाम से काफी दिनों तक प्रकाशित होता रहा) में मिल ने अपनी सम्पादन कला का जो परिचय दिया है और उसने जो महत्वपूर्ण लेख अपने विचारों और धारणाओं को स्पष्ट करने के लिए लिखे हैं वह उसके दार्शनिक क्रांतिकारी विचारों के लिए विख्यात हैं और समकालीन उदार मनोवृत्तियों वाले प्रजातांत्रिक लोगों को काफी प्रभावित करते हैं।

१८४३ ई० में उसकी पुस्तक सिस्टम आफ लाजिक और रेशिओसिने-टिव एण्ड इण्डकटिव (System of Logic, Ratiocinative and Inductive) जब प्रकाशित हुई तो उसने एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में प्रस्थान करके नवीन और मौलिक दृष्टियों का प्रतिपादन किया और मिल के साहस एवं तर्क शक्ति का बड़ा ही उचित प्रमाण प्रस्तुत किया। इस पुस्तक में जिस वादाविवाद के आधार पर उसने अपने व्यापक ज्ञान का परिचय दिया है और जिस प्रकार उसने पाठकों के चिन्तन को झकझोड़ करके सर्वथा नये बौद्धिक दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया है वह सराहनीय है। तर्कशास्त्र पर आधारित ऐसी कृतियाँ बहुत कम हैं।

पाँच साल बाद १८४८ ई० में उसकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति दी प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल इकोनोमी (The Principles of Political Economy) प्रकाशित हुई। एक बार फिर उसकी बौद्धिक शक्ति और अद्वितीय प्रतिभा का परिचय मिला। इस पुस्तक का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और वह अर्थशास्त्रियों द्वारा बहुत मूल्यवान कृति के रूप में स्वीकार की गई।

उपर्युक्त दोनों प्रकाशनों के मध्य काल में उसकी ऐसेज आन सम अनसेटिल्ड क्वेसचन्स इन पोलिटिकल इकोनोमी (Essays on Some Unsettled Questions in Political Economy) प्रकाशित हुई थी। यह प्रकाशन १८४४ ई० में हुआ और इससे उसकी आने वाली कृतियों का वृहद परिचय भी प्राप्त हुआ। यद्यपि इस पुस्तक के सिद्धांत मुख्यतः रिकार्डो के सिद्धांत पर आधारित हैं किन्तु वे मिल की प्रतिभा सम्पन्न प्रस्तुतिकरण के नाते अद्वितीय पैठ और मनन शक्ति का परिचय उसके अकाट्य तर्क के साथ प्रस्तुत करते हैं।

"लिबर्टी—स्वाधीनता सम्बन्धी उसकी पुस्तक १८५४ में लेख माला के रूप में प्रस्तुत हुई थी जो कि १८५९ में पुस्तक रूप में प्रकाशित होकर आयी और जैसा कि उसने स्वयं लिखा है इस कृतित्व में उसकी पत्नी का बहुत बड़ा सहयोग था और जिसकी स्मृति को वह बराबर अपनी पत्नी के मृत्यु के बाद याद करता रहा है। उसकी पत्नी की मृत्यु अकस्मात् १८८५ और ५९ के जाड़ों में दक्षिण यूरोप के यात्रा करते समय ऐविगनन' में हुई थी। इसी वर्ष उसकी पुस्तक थाट्स-आन पार्लियामेन्ट्री रिफार्म (Thoughts on Parliamentary Reform) प्रकाशित हुई थी।

उसकी अन्य पुस्तक कन्सीडरेशन्स आन रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेन्ट (Considerations on Representative Government) १८६० में लिखी गई। १८६१ ई० में इसके विचारपूर्ण लेख यूटिलिटेरियन के नाम से फ्रेसर्स मैगजीन में प्रकाशित हुए, जो कि बड़े सुन्दर रूप में यूटिलिटेरियनिज्म के नाम से १८६३ में प्रकाशित होकर उसके सामाजिक सुधारों

और दार्शनिक दृष्टियों का बृहद परिचय देते हैं। उसकी यह व्यावहारिक रुचि बहुत ही स्पष्टतया देखी जा सकती है। शायद ही कोई नैतिक-शास्त्र सम्बन्धी कृतित्व इतना आकर्षण प्राप्त कर सकी हो जितना इस पुस्तक ने प्राप्त किया था। कुछ लोगों ने इसकी बड़ी सशक्त प्रसंशा की थी और कुछ ने इतनी ही तीव्रता से इसकी कटु आलोचना भी की थी किन्तु इस बात में सन्देह नहीं है कि इसने अपनी प्रथम स्थिति से ही किसी भी नैतिक विचारक के लिए यह कठिन कर दिया था कि वह उसकी अवहेलना करके आगे बढ़ सके। पुस्तक में प्रस्तुत जोश और प्रतिभा से लेखक के आकर्षणपूर्ण व्यक्तित्व का पूर्ण परिचय मिलता है साथ ही उससे हमें लेखक के विश्वासों की ईमानदारी का भी परिचय प्राप्त होता है। अपनी तीक्ष्ण सम्वेदना और सुन्दर व्याख्यात्मक शक्ति के माध्यम से वह पुस्तक आज भी उसी प्रकार महत्वपूर्ण और प्रोत्साहनात्मक प्रभाव रखती है जो कि आज से वर्षों पूर्व उसके प्रकाशन के समय थी।

इक्जामिनेशन आफ सर विलियम हेमिल्टन्स फिलासोफी (Examination of Sir Willian Hamilton's Philosophy) १८६५ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमें विभिन्न दार्शनिक मतवादों के बड़े ही सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किये हैं। इसकी तर्क शक्ति एवं शास्त्रीय विवेचन तीक्ष्ण एवं सशक्त रूप में व्यक्त हुई है। यद्यपि इनमें निर्धारित विचार सदैव प्रभावित नहीं करते किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस पुस्तक में नवीनतम् अनुभूत्यात्मक और इम्पायरिकल दर्शन का विवेचन बहुत कम अँग्रेजी भाषा में अन्यत्र देखने में आयेगा।

उसके जीवन काल में जो अन्य कृतियाँ प्रकाशित हुई उनमें से उसका इनागरल ऐड्रेस (Inaugural Address) था जो कि १८६७ में प्रकाशित हुआ और जिसका विषय सांस्कृतिक मूल्यों से सम्बन्धित था। यह उसने सेन्ट ऐन्ड्रूज यूनिवर्सीटी में रेक्टर (Rector) के पद पर नियुक्त होने के बाद लिखे थे। इसी काल में उसकी दूसरी कृति दी

सब्जेक्सन आफ वीमेन (The Subjection of Women) भी लिखा था जो कि १८६९ ई० में प्रकाशित हुआ।

उसके मृत्यु के बाद कई अन्य कृतियाँ भी प्रकाश में आईं जो बहुत ही उपयोगी और आकर्षण सिद्ध हुईं। इनमें से पहली कृति उसकी आत्मकथा है जो १८७३ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक ने काफी सनसनी पैदा कर दी थी। इस पुस्तक की शैली बड़ी ही उत्तेजक कथा शैली में लिखी गई थी और लेखक के जीवन एवं चरित्र सम्बन्धी रहस्यों को स्पष्टतया एवं सुन्दरता के साथ व्यक्त किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक से कम सनसनी न पैदा करने वाली पुस्तक थी थ्री ऐसेज़ आन रिलिजन (Three Essays on Religion) जो कि उसके मरने के बाद १८७४ में प्रकाशित हुई। मिल ने प्रस्तुत पुस्तक में धर्म सम्बन्धी केन्द्रीय तत्वों पर प्रकाश डाला था और धर्म दर्शन से सम्बन्धित प्रायः समस्त पक्षों पर विचार प्रकट किये थे। यदि वह जीवित होता तो इस दिशा में किस सीमा तक उसके क्रांतिकारी विचार विकसित होते यह उसकी पुस्तक से ही ज्ञात हो जाता है। किन्तु अपने बाल्य-काल ही से धर्म निरपेक्ष शिक्षा पाने के बावजूद और अपने सहधर्मियों के प्रोत्साहन के बिना उसने जिस सीमा तक इस विषय पर विचार किया था उससे उसकी स्वतन्त्र मानसिक प्रकृति का काफी बोध होता है और यह स्पष्ट पता चलता है कि उसकी विकासशील बुद्धि प्रकाश से वंचित नहीं हुई थी।

मिल की अन्तिम कृति जिसमें मानव सम्बन्धी समस्याओं को निश्चित रूप से समझने का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है वह एच० एस० आर० इलियट (H. S. R. Elliot) द्वारा सम्पादित उसके पत्र हैं जो कि १९१० में प्रकाशित हुए। ये पत्र दो वृहद् प्रतियों में मुद्रित हुए हैं और उनके पढ़ने से यह स्पष्ट पता चलता है कि वह विभिन्न वस्तुओं में विशेष रूप से रुचि रखता था और उसकी यह बहुमुखी मानसिक प्रतिमा एवं सत्यान्वेषण की एक साध्य दृष्टि और विस्तृत सहा-

भूति की गहरी सम्वेदना तथा विरोधी मतावलम्बियों से भी भिन्नता की भावना अपने सम्पूर्ण संदर्भों में अद्वितीय थी।

एक शब्द उसके संसदीय जीवन के विषय में भी कह देना चाहिए। यद्यपि यह काल बहुत ही अल्प रहा है किन्तु फिर भी उसकी छाप बड़ी गहरी और विशेषता के साथ सम्बद्ध है। वह १८६६ ई० से लेकर १८६८ ई० तक वेस्टमिनस्टर क्षेत्र से निर्वाचित रेडिकल मेम्बर के रूप में संसद का सदस्य रहा है। किन्तु इसके बाद वह संसद के लिए चुनाव जीतने में सफल नहीं हो पाया। लोक सभा (House of Commons) में उसने बहुत कम वक्तव्य दिये थे किंतु संसद के सदस्यों पर उसका प्रभाव बड़ा ही व्यापक था। उसके संसदीय वक्तव्यों में भी उसकी कृतियों के समान सशक्त, मानसिक दृढ़ता व्यक्त होती थी। उन वक्तव्यों में भी उसके तर्कप्रधान, विवेकपूर्ण विचार एवं उनसे सम्बन्धित उदाहरण कृतियों की भाँति उदार-दृष्टि, दृढ़-विश्वास एवम् पारदर्शी इमानदारी के साथ व्यक्त हुए थे। उसके इन वक्तव्यों का काफी प्रभाव पड़ा था। सदस्य उसकी बातों को आदर एवं ध्यानपूर्वक सुनते थे। उसके विरोधी मतवाले भी उसमें रुचि रखते थे। इसी सम्बन्ध में ग्लैडेस्टन ने व्यक्तिगत रूप में एक बार कहा था कि "जान मिल जब अपना वक्तव्य दे रहे थे तो मेरे मन में बार-बार यह भावना जागृत हो रही थी कि जैसे मैं किसी संत की बात सुन रहा हूँ।" संसद के रैडिकल मतावलम्बियों में वह अग्रगण्य था। किन्तु वह जिस प्रकार से अपने क्रांतिकारी विचारों में परिवर्तन और संशोधन प्रस्तुत करता था उससे कभी-कभी उसके पार्टी के सदस्य भी असन्तुष्ट हो जाते थे। उसके वैयक्तिक विचार प्रायः निजी और विशेष प्रकार के होते थे किन्तु उन्हें व्यक्त करने में वह कभी भी संकोच नहीं करता था। उसकी इस स्पष्टवादिता के कारण बहुधा लोगों को अनावश्यक चोट पहुँच जाती थी। संसद में उसने तीन विषयों को विशेष रूप से प्रतिपादित करने की चेष्टा की थी और वे थे श्रमिक वर्ग

की हित भावना, स्त्री सम्बन्धी मताधिकार और आयरलैण्ड सम्बन्धी भूमि सुधार। इन तीनों विषयों पर उसने अपनी पुस्तक इंगलैण्ड और आयरलैण्ड जो कि १८६८ में प्रकाशित हुई थी बड़ी सम्वेदना के साथ लिखा है और इस समस्या को सारांश में प्रस्तुत करते हुए उसने कहा है—"इस पुस्तिका के मुख्य प्रारूप में एक ओर तो उसने यह सिद्ध किया है कि आयरलैण्ड और इंगलैण्ड के बीच किसी भी प्रकार का बटवारा अथवा अलगाव नहीं होना चाहिये किंतु दूसरी ओर भूमि-सुधार सम्बन्धी विचारों को व्यक्त करते हुए उसने यह आग्रह किया है कि काश्तकारों के स्थायित्व लगान के निश्चित रूप और राज्य के तत् सम्बन्धी विषयों पर जाँच के लिए एक निश्चित प्रयास करना चाहिये।" इस प्रकार उसने भावी संविधानों के सम्बन्ध में निश्चित मतों का प्रतिपालन किया है।

२. राजनीति का तर्क—छः प्रतियों में लिखी गई 'सिस्टम आफ लाजिक' (System of Logic) नामक पुस्तक में 'आन दी लाजिक आफ दी मोरल साइंस' (On the Logic of the Moral Science) नामक प्रति में, उसने विभिन्न अध्यायों में राजनैतिक तर्क से सम्बन्धित विचारों का बहुत व्यापक रूप में उल्लेख किया है। अपने तार्किक शैली के अन्तर्गत उसने समाज और शासन व्यवस्था सम्बन्धी विचारों को स्पष्टतया व्यक्त किया है। जिन सिद्धान्तों के आधार पर उसने अपने विचार विकसित किये हैं वे उसकी पुस्तक के पूर्व भागों में स्थापित मूल्यों के आधार पर ही विकसित किये गये हैं। विशेषतया विशेषादानुमान (Induction) तर्क से सम्बन्धित उसके लिए सामान्यादानुमान पद्धति (Duductive) के माध्यम से विशेषादानुमान प्रधान निष्कर्ष प्राप्त कर लेना सबसे महत्वपूर्ण है। इसी के आधार पर उसने राजनीति के तर्क की स्थापनाएँ की हैं। वह विशेषादानुमानात्मक तर्क पद्धति के अनुसार अनुभूति की व्यापकता को महत्वपूर्ण अंश मानता है। उसे वह किसी भी व्यवस्था के विवेचन और उसके नियमों (Laws) के परीक्षण के लिए भी आवश्यक मानता है। विभिन्न प्रयोगात्मक तरीकों से जिन्हें उसने साम्य, भेद, समन्वयात्मक समझौते और विरोध परिशिष्ट और सहनिष्ठ

(Commitant) आधारों पर स्वीकार किया है और जिनकी व्याख्या करते हुए जिन तरीकों को विशेषादानुमान प्रक्रिया में प्रयोग करके नयी स्थितियों में उनका परीक्षण और निरीक्षण किया है वे सब के सब महत्व-पूर्ण हैं। इस विशेषादानुमानात्मक तरीके के तीन विभिन्न स्तर हैं—प्रथम तो यह कि विशेषादानुमानात्मक शैली अनुभूति के तथ्य का परीक्षण करके एवम् प्रतिपाद्य स्थापना (Hypothesis) को वैज्ञानिक विधि के लिए अनिवार्य मानता है। दूसरे यह कि विशेषादानुमानात्मक (Deduction) पद्धति अथवा सामान्य निष्कर्ष ग्रहण को वह सामान्यानुमानात्मक (Induction) पर आधारित करके अपनी विचार पद्धति का प्रयोग करता है। तीसरे यह कि वह प्रत्येक तथ्य को अनुभूति और परीक्षण के स्तर पर स्वीकार करता है। सामाजिक कार्य-कलाप के क्षेत्र में वह परीक्षण (Verification) को विशेष महत्व प्रदान करता है। वह मानता है कि बिना किसी सामाजिक तथ्य का परीक्षण किये उसकी निन्दा अथवा प्रशंसा काल्पनिक आधार पर प्रस्तुत करना व्यर्थ है।

समाजशास्त्र के क्षेत्र में उस समय राजनैतिक विचारों का बड़ा प्रभाव था। मिल का विशेष मन्तव्य यह था कि वह अपनी तर्क शक्ति एवम् परीक्षण पद्धति के आधार पर यह सिद्ध करना चाहता था कि ये राजनैतिक मतावलम्बी कितने खोखले हैं और एक साधारण राजनैतिक कैसे और किन सीमाओं तक अपनी तर्क पद्धति में दूषित और अपूर्ण होता है और यह अपूर्णता उसमें क्यों और किन परिस्थितियों में उपजती है आदि प्रश्न पर विशेष विचार किया है। साथ ही साथ वह एक ऐसी पद्धति स्थापित करना चाहता था जो सामाजिक स्थितियों और परि-स्थितियों की जटिल समस्याओं का अंकन कर सके और उन विशेष अपवादों का उद्‌घाटन कर सके जो रूढ़ि रूप में प्रचलित हो रही है। उसे अपने समय में दो प्रकार के राजनैतिक तरीकों का सामना करना पड़ा था। ये दोनों तरीके अव्यावहारिक रूप से समस्याओं को देखते थे और ऐसी पद्धति का अनुसरण करते थे जो विशेष प्रभाव नहीं डाल पाते थे। इन राजनैतिक विचारकों में कुछ ऐसे अर्द्ध शिक्षित थे जो केवल

निर्दिष्ट अनुभूति पर बल देते थे। दूसरे वे थे जो सूक्ष्म तत्ववेत्ता (abstract thinking) के रूप में तथ्यों को देखते थे। इन में से प्रथम श्रेणी के विचारक विभिन्न प्रकार की प्रयोगात्मक पद्धतियां का प्रयोग समाज पर करना श्रेयस्कर समझते थे किन्तु यह नहीं जानते थे कि किसी भी सामाजिक तथ्य पर प्रयोग करना और मनमानी कल्पनाओं को समाज पर आरोपित करना उनके वश की बात नहीं है; क्योंकि परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं और वैज्ञानिक आधार पर उनमें से बहुत कुछ टूटता और बिखरता रहता है। इसलिये उनको वैज्ञानिक रूप देने के लिये हमारा काल्पनिक प्रयास न तो पर्याप्त है और न किसी भी सामाजिक पद्धति की जटिलताओं को देखते हुए उसके लक्षणों को किसी एक विशेष स्थिति तक सीमित किया जा सकता है। वस्तुतः वह यह मानता था कि सामाजिक परीक्षण और परिवेक्षण में हम केवल एक कारण को ही नहीं आँकते वरन् कई कारणों को सम्वेत रूप में आँकते हैं। मिसाल के लिए यदि हम रक्षा (protection) की ही समस्या लें और राष्ट्रीय सम्पत्ति पर इस रक्षा (protection) को देखें तो इस विषय पर असंतुलित रूप से मात्र प्रयोगात्मक पद्धति के आधार पर स्वच्छन्द विचार करना घातक होगा। उपनिवेशों के संरक्षण की और बात है। ब्रिटिश पद्धति की मर्यादित बौद्धिकता की और बात है। दोनों की परिस्थितियाँ भिन्न हैं और अनेक रूपों में ये विभिन्न स्तरों पर भिन्न अस्तित्व रखती है। अस्तु उपर्युक्त अपूर्ण तर्क-पद्धति को वह एक विशेष पारिभाषिक संज्ञा देता था और उन्हें "दि केमिकल आर एक्सपेरीमेंटल" (The Chemical or Experimental) पद्धति के नाम नाम से सम्बोधित करता था।

दूसरे प्रकार के चिन्तकों द्वारा जिस पद्धति का प्रयोग किया जाता था (और निश्चय ही इस पद्धति में कुछ कम असंगतियाँ नहीं थी फिर भी इसके अनुयायी भी काफी थे) वह अपनी विवेचना शैली में सूक्ष्म (abstract) और कुछ ज्योमितीय (geometrical) तर्कों से बहुत प्रभावित था। इसमें सन्देह नहीं कि यह पद्धति मानव प्रकृति (Human

Nature) के विधान के अध्ययन से विकसित होती है और मानव प्रकृति के उस रूप का समर्थन करती है जिसे हम जीवन में अनुभव करते रहते हैं और जो विशेषादानुमानात्मक चिन्तन शैली को किसी भी व्यवस्था के अध्ययन के लिए आवश्यक मानती है। किन्तु ज्योमितीय (Geometrical) आधार पर विशेषादानुमान (Deductive) प्रक्रिया को स्वीकार करने से कई प्रकार की गलतियाँ विकसित हो जाती हैं। विशेषकर समाज के विषय में जहाँ हमें सामाजिक प्रगति को भी ध्यान में रखना और उसका मूल्यांकन करना आवश्यक होता है; क्योंकि जहाँ व्यवस्थाएँ और स्थितियाँ सदैव एक दूसरे से संघर्ष करती और बदलती रहती हैं; और जहाँ प्रवृत्तियों का अध्ययन करना अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है; वहाँ ज्योमितीय परिकल्पना और सिद्धांत में उस संदर्भ की सजगता को अंगीकार करने की क्षमता नहीं रह जाती। इसका मुख्य कारण यह है कि उसमें वह लचीलापन नहीं होता जो इन सब को अपने परिवेश में ले सके। इस प्रकार के तर्कों का प्रमाण देते हुए उसने बेंथम की इन्टेरेस्ट फिलास्फी (Interest Philosophy) का उदाहरण देते हुए उस स्कूल की चिन्तन शैली का इतना घोर खण्डन किया है कि भाव आवेग में वह यह भी भूल जाता है कि वह स्वयम् भी उसी स्कूल का अनुयायी और समर्थक है। इस इन्टेरेस्ट फिलास्फी (Interest Philosophy) का वह पक्ष ही मिल के दिमाग में सर्वप्रधान रहा है जो कि स्वयम् उसके पिता ने प्रतिपादित किये थे। उसके पिता के विचारों की दो प्रमुख भावना थी जिनका वह बलपूर्वक खण्डन करता था—"प्रथम तो यह कि किसी भी शासक के कर्म उसके निजी स्वार्थों से परिचालित होते हैं और दूसरा यह कि इस स्वार्थ का समीकरण शासित वर्ग के ऊपर मात्र दायित्व के रूप में ही लादा जाता है।" मिल ने इन दो विचारों में से एक को भी सत्य नहीं माना है। यही नहीं उसने इनमें से दूसरे विचार को तो बिलकुल सत्य-च्युत रूप में स्वीकार किया है, और उसे मिथ्या कह कर निन्दित किया है।

इस प्रकार उसने एक तीसरी पद्धति का अनुकरण किया है। वह

मात्र अपनी इस पद्धति को ही समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए पर्याप्त मानता है। इस विशेष पद्धति को उसने दि फिजिकल आर कांक्रीट विशेपा-दानुमानात्मक पद्धति (The Physical or Concrete Deductive Method) के नाम से सम्बोधित किया है। उसकी यह विचार पद्धति भौतिक विज्ञान की जटिल विधियों को स्वीकार करती है और प्रारम्भ से ही यद्यपि विशेषादानुमानात्मक (Deductive) का अनुसरण करती है फिर भी इस सम्बन्ध में मिल का विशेष आग्रह इसको एक या सीमित परिधि में प्रयोग करना नहीं है। वह इसका उपयोग विभिन्न आयामों के माध्यम से संतुलन स्थापन में मानता है। यह पद्धति इस बात पर बल देती है कि प्रत्येक घटना कई कारणों के सम्वेत योग से जन्म लेकर उनकी पुंजीभूत अभिव्यक्ति के रूप में व्यक्त होती है। कभी-कभी उन्हीं कारणों के माध्यम से ही घटनाएँ अनुशासित होती हैं। बहुधा वे कारण अन्य प्राकृतिक नियमों और मानव व्यवहारों से भी संचालित होते रहते हैं।

अस्तु, मिल के अनुसार समाजशास्त्र एक प्रकार से उस विशेषादानुमा-नात्मक पद्धति की जिज्ञासा से उत्पन्न हुआ है जो मानव प्रकृति के प्राथमिक नियमों द्वारा प्रतिपादित होता है। किंतु यदि मिल का यह कथन मान लिया जाय तो फिर निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि समाजशास्त्र निश्चित सम्भावनाओं (A Science of Positive Predictions), को व्यक्त करने का विज्ञान है क्योंकि विज्ञान की मुख्य विशेषताओं में से (जैसा कि कामेट ने भी स्वीकार किया है) पूर्व दृष्टि (Prevision) की शक्ति सर्वश्रेष्ठ है, और किसी भी वैज्ञानिक विषय में पूर्वदृष्टि का होना परम आवश्यक है। पूर्वदृष्टि की यह कठिनाई समाजशास्त्र में और भी विपुल मात्रा में इसलिए बढ़ जाती है क्योंकि समाज विज्ञान में नितान्त निश्चित रूप से कोई भी भविष्य वाणी उस प्रकार नहीं की जा सकती जिस प्रकार कि ज्योतिषशास्त्र जैसे विज्ञान में विभिन्न प्रवृत्तियों के अध्ययन द्वारा किया जा सकता है। यही कारण है कि समाजशास्त्र में प्रवृत्तियों के विषय में इतनी अनिश्चयात्मकता

है कि वह पूर्ण रूप से वैज्ञानिक भविष्यवाणी की सीमा तक को नहीं ग्रहण कर पाती। एक दृष्टि से उसकी यह विशेषता ही उसके मार्गदर्शन का वह मूल्य है जो विधायकों और राजनीतिज्ञों की आँख खोलने के लिए पर्याप्त है।

इसी सम्बन्ध में एक दूसरी बात यह है कि समाजशास्त्र जो मनुष्य और समाज दोनों का अध्ययन प्रस्तुत करता है, स्वतः गतिशील तत्व है। जैसे-जैसे एक युग के बाद दूसरा युग आता है मनुष्य का अनुभव भी विकसित होता जाता है। इस अनुभव के आधार पर ही एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी से भिन्न होती जाती है। किसी भी एक काल में समाज की परिस्थितियाँ उसकी विशेष प्रवृत्तियों का निर्माण करती हैं। किन्तु यह परिस्थितियाँ भी समाज द्वारा परिष्कृत होती रहती हैं। यह प्रक्रिया स्वतः समाज को भी बदलने में कुछ कम योग नहीं प्रदान करती। यह स्थिति ही समाजशास्त्र के अध्येयता को इतिहास का अध्ययन करने के लिए बाध्य कर देती है और उसे उन निहित नियमों का अध्ययन और अन्वेषण करने का अवसर प्रदान करती हैं जो मानव प्रगति के पथ में सहायक होती है। इन नियमों के साधारणीकरण मात्र से इतिहास का अध्ययन पूरा नहीं होता। न ही साधारणीकरण से इतिहास की घटनाओं एवम् तथ्यों में पर्याप्त शक्ति आ पाती है। वे हमारा मार्ग प्रदर्शन ही नहीं कर सकतीं, वे केवल ऐसे सहज सामाजिक नियमों को ही जन्म देती हैं जिनके परीक्षण-विवेचन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। इतिहास के इन तथ्यों का परीक्षण (Verification) उसी समय उपयोगी हो सकता है जब इनको मानव प्रकृति के परिप्रेक्ष में संदर्भयुक्त कर के देखा जाय। यदि इस संदर्भ के साथ अनुभूतियों को हस्तांतरित कर के यह सिद्ध किया जा सकता है कि विशेषादानुमानात्मक रूप से निकाला गया निष्कर्ष उचित एवम् प्राकृतिक रूप से लक्ष्य-सिद्ध तथ्यों से उपयुक्त है, तो उनका एक निश्चित मूल्य अपने आप विकसित हो जायगा। इस पद्धति को ही मिल ने रहस्यात्मक ढंग से (enigmatically) दि इनवर्स डिडक्टिव आर हिस्टारिकल मेथड (Inverse

Deductive or Historical Method) के नाम से सम्बोधित किया है।

समाजशास्त्र की प्रस्तुत व्याख्या करने में यह स्पष्ट है कि मिल अपने समकालीन फ्रेंच विचारक आगस्टे कामटे (Auguste Comte) से विशेष रूप से प्रभवित था। समाजशास्त्र को सर्वथा भिन्न और निश्चित विज्ञान का रूप प्रदान करने में निश्चय ही कामटे का बहुत बड़ा हाथ था क्योंकि उसी ने इस विज्ञान के विषय, क्षेत्र और उसकी पद्धति को निधारित करने में विशेष योग दिया था। कामटे की व्याख्याओं को सर्वप्रथम मिल ने ही स्वीकार किया था। कामटे की विचार-धारा में सामाजिक स्थिरता (Social Status) और सामाजिक गतिशीलता (Social Dynamics) जैसी दो विभिन्न शाखायें समाज विज्ञान का मुख्य अंग बन गई थीं। इन दो में से सामाजिक स्थिरता (Social Status) का क्षेत्र और उसका विषयवस्तु सामाजिक व्यवस्था (Social Order) से सम्बन्धित था। सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत समाज की विभिन्न स्थितियों के निरीक्षण-परीक्षण के आधार पर सामाजिक एकता और स्थायित्व को जीवन देने वाले उन तत्वों का अध्ययन प्रमुख है, जो समाज के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है। दूसरी शाखा अर्थात सामाजिक गतिशीलता (Social Dynamics) उन सामाजिक स्थितियों और परिस्थितियों का अध्ययन प्रस्तुत करता है जो काल-क्रम में एक के बाद दूसरी स्थितियाँ क्रमिक रूप में विकसित होती रहती हैं और सामाजिक प्रगति के नियमों को निधारित एवम् प्रकाशित करती हैं। मिल ने अपनी पुस्तक 'रिप्रेजिन्टेटिव गवर्नमेंट' (Representative Government) में व्यवस्था (Order) और प्रगति (Progress) को अविभाज्य माना है। उसका यह मत है कि इनको एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। यही नहीं वह इनको बहुत कम एक दूसरे का विरोधी मानता है। इन दोनों में वह केवल समस्या को सरल करने और अध्ययन को सुगम बनाने की दृष्टि से तथाकथित भेद उचित समझता है। जहाँ तक सामाजिक प्रगति का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि यह प्रगति मनुष्य के ज्ञान और विश्वास की प्रकृति द्वारा ही अनुशासित होती है। इन

दोनों के विषय-वृत्त के अनुरूप ही इनकी संभावनाएँ गतिशील होती हैं। प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन के पहले समाज के लोगों के विचारों और धारणाओं में परिवर्तन आता है। यह परिवर्तन इसलिए भी सदस्यों की भावनाओं और विचारों में सर्वप्रथम व्यक्त होता है क्योंकि सामाजिक परिवर्तन के ज्ञात-अज्ञात अनेक कारण होते हैं। यही वह तथ्य है जो इतिहास दर्शन (Philosophy of History) के मूल में निहित होता है और जो स्वतः परीक्षण (Verification) की प्रवृत्ति को जन्म देकर सामाजिक विकास के दर्शन-पक्ष का प्रारम्भिक रूप निर्धारित करता है। सांख्यकी के अध्ययन—जो मिल के समय में विशेष महत्व पूर्ण रूप में बकल (Buckle) द्वारा प्रतिपादित किया गया था—से भी इस दिशा में सहायता मिलती है।

मिल ने जिस प्रकार समाजशास्त्र की व्याख्या प्रस्तुत किया था उससे अंग्रेजी विचारकों को सर्वथा नयी दिशा मिली थी। इन विचारों ने ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका को समान रूप से प्रभावित किया था। समाजशास्त्र के अध्ययन में तब से आज तक बहुत अधिक परिवर्तन हो गये हैं किन्तु इन परिवर्तनों से मिल द्वारा स्थापित विचारों के मूल्य में कोई क्षति नहीं आती। यदि वह सामाजिक विकास (Social Evolution) के सिद्धान्त का निश्चित प्रयोग न करता (जैसा कि हमें बेन्जमिन किड (Benjamin Kidd) में मिलता है) तो शायद सामाजिक विकास की धारणा को आधुनिक युग की विचार-धारा के साथ विकसित होने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता।

• ३—नीतिशास्त्र (Ethics)—मिल के समय का प्रचलित नीति दर्शन (Ethical Philosophy) अधिकतर कल्पनाओं और आत्मशक्ति के सिद्धान्तों पर आधारित था। उसकी प्रेष्णीयता भी एक निश्चित नैतिक-शक्ति और आत्म-शक्ति को समस्त नैतिक धारणाओं का मूलभूत तत्व मान कर चलता था। बजाय उसके कि अनुभूतियों पर बल दे वह उपर्युक्त पक्षों पर अधिक बल देता था। यद्यपि ये मनोभावनायें

और मनोवृत्तियाँ मनुष्य की आदिम स्थितियों की परिचायक हैं फिर भी इनके समर्थन में नैतिक शक्ति को विशेप रूप से सजाकर, एक विषिष्ट प्रभुता उत्पादक वस्तु बना कर प्रस्तुत किया था। कुछ इस प्रकार का वातावरण ही बना दिया गया था जैसे वह भावनायें जो आलोचना के परे दिव्य विभूति वाली हैं और उन्हें जिस रूप में वे प्रस्तुत कर रहे हैं उसी रूप में बिना किसी विवेचन-तर्क के स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार की विचार-धारा निश्चय ही उपयोगितावाद और आनन्दवाद की कसौटी पर खरी नहीं उतरती थीं। ये आत्मवादी इस बात पर अधिक आग्रहशील थे कि कर्त्तव्य, उदात्त-चेतना, सामाजिक आभार और अधिकार एक मात्र उन्हीं की सत्ता है—उसे इससे पृथक सोचने वाला स्पर्श तक नहीं कर सकता। मिल ने इस प्रकार की चिन्तन पद्धति के विरुद्ध उपयोगितावाद के सिद्धांत को आग्रहपूर्वक प्रस्तुत किया और समस्त योग बल से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि उपयोगितावादी भी उतनी ही तीव्र अनुभूति के साथ आत्म-शक्ति, आत्म-निष्ठा और आत्मा की आवाज में विश्वास करता है जितना कि और कोई कर सकता है और उपयोगितावादी दर्शन में उनका योग उपयोगितावादी नैतिकता के साथ उतना ही है जितना कि आत्म-वादी (Intuitionist) के साथ है। मिल ने इससे भी आगे अपने विरोधियों से इस बात की प्रार्थना की कि वे समस्त द्वेष-भाव त्याग करके उपयोगितावादी विचार-धारा के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करें और आनन्द की भावना के नैतिक पक्ष को निष्पक्ष होकर देखने की चेष्टा करें। यह आनंद-वाद मात्र व्यक्ति माध्यम तक ही सीमित नहीं है वरन् इस आनन्द का उन समस्त भावनाओं से सम्बन्ध है जो मानवता की ओज शक्ति में, सद्भावना के साथ तो निहित रहती ही है किन्तु इसके अतिरिक्त क्रिश्चियन धर्म और कामटेइज्म में विशेष रूप से निहित है। "उपयोगितावाद व्यक्ति-आनन्द और समष्टि आनन्द के बीच व्यक्ति को उतना ही निरपेक्ष, निष्पक्ष और निस्वार्थ भाव से भाग लेने की प्रेरणा देता है, जितना कि किसी भी उदात्त उदारचेता व्यक्ति को कोई

भी अन्य धर्मग्रंथ प्रेषित करता है। नज़ारेथ के मसीहा ईसा मसीह के सुनहले सिद्धांतों में पूर्ण उपयोगितावादी सिद्धांतों का योग है—"कि तू दूसरों के साथ ठीक वही व्यवहार आचरित कर जो तू स्वयम् अपने साथ आचरित करना चाहता है, और अपने पड़ोसियों के साथ वैसा ही प्यार का व्यवहार कर जैसा कि तू स्वयम् अपनों के साथ चाहता है" और उपयोगितावादी सिद्धांत इसी आदर्श और नैतिकता का मूल मन्त्र है। 'आन लिबर्टी' (On Liberty) नामक पुस्तक में लिखते हुए वह कहता है—"प्रत्येक नैतिक समस्या का अन्तिम रूप उपयोगितावाद (Utilitarianism) की ही कसौटी पर आँका जा सकता है। किन्तु उपयोगितावाद का प्रयोग व्यापक अर्थ में लगाना होगा और उसे मनुष्य की शाश्वत शक्तियों में निहित प्रगति की कामना के साथ सम्बद्ध करना होगा।" तदनुसार वह नैतिकता के आत्मीय सत्यों को तिरस्कृत नहीं करता बल्कि वह मूल्यों के स्तर पर कुछ प्रश्न प्रस्तुत करता है जिनका उत्तर देने की प्रक्रिया में वह यह स्पष्टतया सिद्ध करता है कि नैतिकता से सम्बन्धित बहुत से सिद्धान्त और धारणायें ऐसी हैं जो आत्मीय होने का दावा तो करती है किन्तु उनकी तथाकथित आत्मशक्ति की धारणा झूठी और अन्धविश्वास के स्तर की हैं, अथवा वे मात्र भावनात्मक उद्रेक हैं, द्वेष हैं, जिनको विवेक के आधार पर मूल्यांकित नहीं किया जा सकता। इसके विप-रीत उसने यह प्रतिपादित किया कि जो नैतिकता के स्तर पर मूल्यवान है उसे अनुभूति के स्तर पर भी मूल्यवान होना आवश्यक है। प्रत्येक नैतिक आग्रह को अनुभूति से सम्बन्धित होना चाहिये। ऐसा होने पर ही नैतिकता की उचित स्थापना सम्भव हो सकती है और नीति-शास्त्र की वैज्ञानिक स्थिति निर्धारित की जा सकती है। नैतिक भाव-नाएँ जन्मजात नहीं होतीं। उसे संस्कार द्वारा ग्रहण किया जाता है। ऐसा होने पर भी वे मूल्यहीन नहीं हैं, और न ही वे किसी भी प्रकार से मनुष्य के संदर्भ में अप्राकृतिक कही जा सकती हैं।

अस्तु इस प्रकार नैतिक विचारों को आत्मशक्ति पर केन्द्रित करने एवम् उन्हें अनुभूतियों की सीमा के परे सिद्ध करने के बजाय, उसने उन्हें सीधे अनुभूतियों की पहुँच तक प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। उसने इस बात पर विशेष आग्रह किया है कि इन नैतिक धारणाओं की अनुभूति के स्तर पर परीक्षा की जाय तभी इनकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है। अपनी प्रवाहपूर्ण विवेचना प्रस्तुत करने के बाद मिल ने भी बेन्थम और जेम्स मिल की भाँति यह अनुभव किया कि नैतिक शक्तियाँ आनन्द-भावना द्वारा स्थापित मूल्यों और उनके निष्कर्षों से सतत प्रभावित होती रहती है।

जो भी हो यद्यपि आनन्द ही प्रत्येक नैतिक मूल्य की अन्तिम कसौटी है, फिर भी मिल ने यह आवश्यक समझा कि उपयोगिता-वाद के मत को विभिन्न प्रकार के आनन्दों में विभाजित करके अधिक पुष्ट किया जा सकता है। यह निश्चय ही बेन्थम और जेम्स मिल की विचार-परम्परा से सर्वथा भिन्न था। उनके मत के अनुसार आनन्द का अन्तर अनुपातात्मक था और वे प्रत्येक आनन्द को अपने में ही पवित्र मानते और एक आनन्द को दूसरे के बराबर समझते थे। किन्तु जेम्स स्टुअर्ट मिल ने आनन्द की धारणा में गुणात्मक (Qualitative) अन्तर स्वीकार करना असंगत नहीं माना। उसने गुणात्मक तत्व पर बल देना नितान्त आवश्यक समझा। विभिन्न आनन्द के स्तरों को उसने अपने में ही पूर्ण मानते हुए उनको मूल रूप में भिन्न माना और यह स्थापित किया कि उनमें कुछ उच्च और कुछ निम्न वर्ग के होते हैं। इसकी वास्तविकता का प्रमाण इस प्रकार मिलता है क्योंकि उसका यह वर्गीकरण प्रायः सभी बुद्धिमान लोगों को जिन्होंने दोनों स्तरों की अनुभूतियों को वहन किया था, समान रूप से रुचा और उन्होंने निर्णायक के रूप में उसके इस कथन का पुष्टीकरण भी किया और उनके निर्णय अन्तिम रूप से मान्य भी हुए। "एक असंतुष्ट मनुष्य होना एक सन्तुष्ट सुअर होने से कहीं अच्छा है।" सुकरात की तरह असंतुष्ट होना, मूर्खों की तरह से तुष्ट होने

से कहीं श्रेयस्कर है। यदि इस सम्बन्ध में सुअरों और मूर्खों में समान रूप से मतैक्य की अपेक्षा मतवैभिन्न पाया जाता है तो यह मात्र इस कारण है क्योंकि वह इस समस्या को केवल अपने ही पक्ष से देखते हैं। दूसरे विचार वाले इस तथ्य के दोनों पक्षों को भली भाँति जानते हैं।"

इस में सन्देह नहीं कि आनन्द सम्बन्धी गुणात्मक (Qualitative) भेद स्वीकार कर लेने के बाद नैतिक मूल्यों से सम्बन्धित सिद्धांतो को विशेष शक्ति मिली। किंतु यद्यपि शुद्ध तर्क के स्तर पर ऐसा होना उचित ही लगता है, तथापि विशुद्ध उपयोगितावादी सिद्धांत से यदि देखा जाय तो यह बात उतनी सरल नहीं दीखती।

मिल जिस रूप में आनन्दगत मूल्यों के प्रति आग्रहशील है और जिस प्रकार वह इन मूल्यों को आधार मानकर निरपेक्षता और सदाशयता को स्वीकार करता है वह बहुत स्पष्ट और प्रभावोत्पादक है। कोई भी आत्म-वादी (Intuitionist) इस निरपेक्षता और सदाशयता को उस स्पष्टता के साथ नहीं लिख सकता था जिस स्पष्टता और प्रभावजनित रूप में मिल ने लिखा था। यही नहीं कोई दूसरा व्यक्ति इतनी दृढ़ निष्ठा के साथ लिखने का साहस भी नहीं कर सकता था। फिर भी इन सब के मूल में आनन्द की ही धारणा परोक्ष और क्रियाशील रूप में कार्य करती हुई प्रतीत होती है।

इस प्रकार के भ्रान्तिजनित तारतम्यता का अभाव मिल की सम्पर्कवादी मनोवैज्ञानिक पद्धति में प्रायः भासित होती है। अहमवाद (अथवा अहम्वाद की अभिव्यक्ति) का रूपान्तरण परहितवादी (Altruism, अथवा दूसरों की कल्याण भावना की दृष्टि) में व्यक्त होकर प्रभावित करता है। मिल के अनुसार विचार में यह रूपान्तरण ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि द्रव्य-लोभी प्रायः कृपण के रूप में बदल जाता है। कोई भी व्यक्ति द्रव्यसंग्रह में केवल आनन्द के भाव से रत हो सकता है किन्तु धीरे-धीरे वह अपने मोह को लक्ष्यच्युत करके माध्यम पर ही केन्द्रित हो जाता है, और धनार्जन केवल एक व्यसन

के रूप में करने लगता है। इसी प्रकार आनन्द अन्ततोगत्वा उस मानव निरपेक्षिता को भी व्यक्त करता है जिसमें नैतिक व्यक्ति के भीतर से 'स्व' की भावना नष्ट हो जाती है और वह केवल परहित की ही बात सोचने लग जाता है। उसके आनन्द की पराकाष्ठा वहाँ है जहाँ वह इच्छा करना बन्द कर देता है और दूसरों के लिये अथवा दूसरे जीवों के आनन्द के लिए कार्यशील हो जाता है। मिल ने आनन्द की उस विरोधाभासित प्रवृति के प्रति विशेष आग्रह किया है, जो उसके काल में हेडानिस्टिक पैराडक्स (Hedonistic Paradox) के नाम से अधिक जाना जाता था। किसी भी आनन्द को लक्ष्य मान कर उस पर सीधा प्रयास करने में असफलता भी मिल सकती है : जैसा कि बेन कहता है कि "आनन्द अचूक निशाने की भाँति नहीं प्राप्त किया जा सकता है।" हमें आनन्द प्राप्ति के लिए बूमरेंग की भाँति वृत्ताकार रूप में प्रयास करना चाहिये और अपने लक्ष्य को परोक्ष गति से प्राप्त करना चाहिये। यह विरोधाभास मिल के मतवाद में सटीक रूप से व्यक्त हुआ है। किन्तु इस प्रयोग में बड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता है। यदि सावधानी नहीं बर्ती जायगी तो यह पथ-भ्रष्ट भी कर सकता है, क्योंकि आनन्द ठीक उसी प्रकार सीधे रूप से प्राप्त नहीं किया जाता है जिस प्रकार किसी डिनर टेबुल पर किया जाता है। अस्तु यदि हम अपने मन्तव्यों को स्वयम् अपने से छिपाने का प्रयास करेंगे तो हमें अपने लक्ष्य की उपलब्धि नहीं हो सकती।

इसी प्रकार सदाशयता (Virtue) की व्याख्या को मिल ने सम्पर्क के माध्यम और लक्ष्य के आधार पर प्रस्तुत किया है। वह सदाशयता को आनन्द प्राप्त करने का एक माध्यम मानता है। किन्तु वह इसके स्वतन्त्र रूप को भी ग्राह्य मानता है और इस प्रकार वह सदाशयता को आनन्द का अविभाज्य अंश भी मानता है। यह सब मानने के बावजूद अपने अन्तिम विवेचन में वह यह स्थापित करता है कि जो सदाशयता को निरपेक्ष रूप में स्वीकार करना चाहते हैं, वे या तो ऐसी इच्छा की चेतना में ही आनन्द का अनुभव करते हैं या इसके अभाव में उनकी कल्पना

दुख से आक्रान्त हो जाती है। किन्हीं स्थितियों में सदाशयता (Virtue) की कामना दोनो भावनाओ की सचेत शक्ति द्वारा से ही प्रभावित होती है।

मिल के विज्ञान की यह विशेषता है कि मिल ने नैतिकता के उस सामाजिक पक्ष को स्थापित करने की चेष्टा की है जो बेन्थम और जेम्स मिल दोनों ही के विचार दर्शन में उपेक्षित था, इससे भी अधिक मिल ने उन प्रेरक शक्तियों और विकासशील तत्वों को उभारने का प्रयास किया है जो कि समाज के सदस्यों की नैतिक अच्छाइयों और उपलब्धियों के लिए आवश्यक थे। उसके विचार-दर्शन के मुख्य अंग सदाशयता और सहानभूति हैं। दूसरे शब्दों में उसकी विचारशृङ्खला में सामाजिक संवेदना का बहुत बड़ा सशक्त अंश है। अथवा यह कहा जा सकता है कि उसके चिन्तन में सहधर्मियों में ऐक्य स्थापित करने की सशक्त भावना है, उसके विचारों में यह भावना निहित है कि हमारी सामाजिक प्रवृत्ति गतिहीन और लकीर की फकीर नहीं है। इसके विपरीत ऐक्य भावना पैदा की जा सकती है और उसे विकसित करके, बिना किसी भी प्रकार की बाधा के, नये तत्वों के विकास के साथ सशक्त माध्यम बनाया जा सकता है।

इस दृष्टि से कि आनन्द या सुख इच्छा के एकमात्र अंग हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने आनन्द और सुख के लिए ही इच्छुक होता है, मिल अपने विचार दर्शन में और आगे की स्थिति का भी बोध कराता है। वह इस बात की पुष्टि करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को इच्छा करनी चाहिये और उसे व्यापक सुख के पक्ष को विकसित करना चाहिये। इस बात का कोई कारण नहीं दिया जा सकता कि व्यापक सुख-कामना, इच्छा के लिए क्यों परम आवश्यक है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति जहाँ तक कि वह सोच-समझ पाता है निजी सुख के लिये ही प्रयत्नशील होता है। स्वयम् एक मान्य तथ्य होने के कारण भी आवश्यक प्रमाणों को एकत्र करना कठिन है। फिर भी यह निश्चित रूप से सिद्ध किया जा सकता है कि आनन्द

कामना स्वयम् में ही एक अच्छी वस्तु है और प्रत्येक व्यक्ति की सुख-कामना उसके लिए तो अच्छी होती ही है साथ ही वह व्याप्त सुख की सम्भावनाओं को भी बढ़ाती है और सामान्य रूप से सभी लोगों की सुख भावना को बढ़ाने में सहायक होती है। इस विषय में तर्क-वितर्क करना आवश्यक माना जाता है क्योंकि तर्क द्वारा न तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु की इच्छा मात्र इसलिए करता है क्योंकि वह वस्तु इच्छा करने लायक है और न यह कि बिना व्यक्ति के भावांतरण के वैयक्तिक आनन्द को सामान्य जन के सुख के साथ प्रतिष्ठित ही किया जा सकता है। तर्कशास्त्र के अनुसार यह अन्तिम स्थिति तर्कदोष का "समन्वय दोष" (Fallacy of Composition) माना जाता है। किंतु मिल व्यक्ति को मात्र समाज से पृथक इकाई के रूप में नहीं स्वीकार करता। वह मुख्यतः उसे समाज का ऐसा प्राणी मानता है जो सशक्त सामाजिक प्रवृत्तियों, सहानुभूतियों और सद्भावनाओं के साथ परिचालित होता है। अभी तक हमारी प्रकृति में व्यक्ति की इच्छा-कामना में समाज का सुख देखने की आदत सी रही है। व्यक्ति की इच्छा शक्ति में (सुख और आनन्द भावना के समान) व्याप्त मानव सुख समृद्ध की प्रकृति रही है। अस्तु व्यक्ति की वैयक्तिक इच्छाओं को स्वाभाविक प्रवृत्ति (natural desire) के रूप में न तो स्वीकार किया जाता रहा और न उसको बिश्वसनीय ही माना गया है। मिल के इन विचारों के आलोचक प्रायः जहाँ मिल की आलोचना करते हैं वहाँ वह यह भूल जाते हैं कि मिल ने व्यक्ति को बार-बार ऐसा चित्रित करने का प्रयास किया है जिसमें सहानुभूति, सौन्दर्य और सहयोग उस के अन्तर मन में ठीक उसी प्रकार रहते हैं जैसे कि ये तत्व किसी भी सामाजिक व्यवस्था में निहित होते हैं और आपसी हित और सद्भावना को वहन करते हैं। अपने इस तर्क को मिल दृढ़ पृष्ठभूमि पर आधारित करके प्रस्तुत करता है। उसका तर्क और भी दृढ़निष्ठ रूप में प्रस्तुत हो सकता था यदि वह अपने इस मतवाद को वंशानुक्रम के तत्वों के साथ सम्बन्धित करके प्रस्तुत करने का प्रयास करता। इसी सम्बन्ध

में जून १८६८ में एक पत्रकार के समक्ष अपने पक्ष का स्पष्टीकरण करते हुए उसने कहा था—"जब मैंने यह कहा था कि व्यापक आनन्द में व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ-साथ समाज का सुख भी शामिल है तो मेरा मतलब यह नहीं था कि प्रत्येक व्यक्ति का वैयक्तिक आनन्द दूसरे व्यक्तियों के आनन्द के समान श्रेष्ठ है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि एक स्वस्थ समाज और शिक्षित वर्ग में इन दोनों पक्षों का तर्क स्वयम् बिना एक दूसरे पर आश्रित किये कार्य नहीं कर सकता। मैंने तर्क पर सभी ओर से विचार किया है।" वह यह कहता है कि "चूँकि 'अ' के सुख में अच्छा-इयाँ हैं, 'ब' के सुख में भी अच्छाईयाँ हैं और 'स' के सुख में भी अच्छाइयाँ हैं और इस तरह यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इन सब सुख का योग भी सुख ही होगा।" (पत्र २, पृष्ठ ११६)

मिल द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और तर्कशास्त्र ने उसे पूर्व निश्चयवादी (Deterministic) ही तो बना दिया था किन्तु उसने उसे नियतिवादी रूप में इच्छा शक्ति का समर्थक नहीं बनाया था। वह अपने तर्क से इस बात को गलत नहीं सिद्ध कर सका था कि मनुष्य प्रकृति का अंश है और प्राकृतिक नियमों और अनुकूलात्मक तत्वों से ही वह संचालित होता है। किन्तु इन तर्कों से हमें कोई विशेष उपलब्धि नहीं होती। व्यक्ति भी एक प्राणी है जो सतत सचेष्ट शक्ति से प्रकृति को प्रभावित करता है। यदि वह ऐसा न करता होता तो सामाजिक और नैतिक विकास असम्भव हो जाता। फिर भी इसका यह मतलब नहीं है कि मनुष्य की इच्छा शक्ति नितांत स्वतन्त्र और स्वच्छन्द है। वह आचरण में नहीं तो विचारों में मनचाहे ढंग से सोचने का अधिकारी है। इसका यह भी मतलब नहीं है कि इसकी इच्छा शक्ति उस सीमा तक अनुशासित और प्रभावित की जा सकती है कि वह अनिवार्यता का रूप ग्रहण करके उसे विकृत बना दे। इसका केवल यह अर्थ है कि मनुष्य निमित्त का प्रजनन (Causation) करता है और

सीमाओं द्वारा उसी प्रकार अनुशासित होता रहता है जिस प्रकार कि भौतिक जगत प्रभावित और अनुशासित होता है। प्रश्न अब यह उठता है कि यह 'निमित्त का प्रजनन' क्या अर्थ रखता है और स्वतः किस आशय का द्योतक है। मिल जैसा कि वह 'लाजिक' तर्कशास्त्र में (इस निमित्त की व्याख्या करता है) यह स्पष्ट रूप से मानता है कि निमित्त का अर्थ अनिवार्य नहीं है। कारण और प्रभाव में कोई दबाव या अनिवार्यता का सम्बन्ध नहीं होता—वे क्रमिक और स्वतन्त्र घटनाओं के अनुक्रम मात्र होते हैं। वह प्रत्येक निमित्त (Cause) को प्रभावों के समूह से उपजता हुआ मानता है। वह निमित्त (Cause) के क्रमिक एवम् समान प्रतिरूप ही को प्रभाव (Effect) के पूर्व घटित होने वाली वस्तु मानता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए बेन (Bain) ने लिखा है—"निमित्त जब घटित होता है तो वह घटनाओं को भी जन्म देता है। जब पद-च्युत होता है तो प्रभावों को भी पदच्युत कर देता है। इस प्रकार मनुष्य की मनोनयन शक्ति (Choice) इन्हीं के आधार पर आधारित होती है और एक प्र कार से वे मनोनयन शक्ति को प्रभावित और निर्मित भी करती रहती हैं। प्रत्येक मनुष्य का एक चरित्र होता है जिसकी पूर्ण-रूप से व्याख्या नहीं की जा सकती किन्तु जो निश्चय ही डाँवाडोल, अविश्वसनीय और कुटिल नहीं होता वरन् उसमें एक प्रकार की दृढ़ता और अपेक्षाकृत निश्चयात्मकता गठन होता है, जिसके आधार पर हम उसका मूल्यांकन करके उस पर भरोसा कर सकते हैं। वह स्वयम् भी एक विवेकवान प्राणी है और साउद्देश्य कार्य करता है। वह इच्छाओं द्वारा पारिचालित होता है। यह साउद्देश्यता ही वह निमित्त है और उसके मनोनयन शक्ति को अविभाज्य गति और प्रेरणा देता है। किंतु यह भी है कि मनुष्य की इच्छाएँ ही उसके चरित्र को नियंत्रित और अनुशासित करती हैं। इस प्रकार मनुष्य का चरित्र स्वयम् ही उसकी अपनी अभिव्यक्ति शक्ति के रूप में व्यक्त होता है। वह स्वयम् अपने चरित्र का निर्माता होता है यह चरित्र निर्माण वह स्वयम् अपने लिए निर्मित करता है। यदि कोई भी व्यक्ति साउद्देश्य मालूम हो जाय; उसकी मान-

सिक गतिविधि के साथ, उस व्यक्ति का स्वभाव और उसका चरित्र भी मालूम हो जाय, साथ ही यह भी ज्ञात हो कि उसका आचरण कैसा है, तो बिना किसी त्रुटि के उसके विषय में निष्कर्ष निकाला जा सकता है। यदि हम व्यक्ति को ठीक-ठीक जानते हैं और उसको उन परिस्थितियों और प्रेरक शक्तियों को जानते हैं जो उसके आचरण को गति देती हैं, तो हम उसके आचरण के विषय में ठीक उसी प्रकार भविष्यवाणी कर सकते हैं जिस प्रकार कि हम भौतिक घटनाओं के विषय में करते रहते हैं।" "यदि मनुष्य की आवश्यकता (Necessity) का सूक्ष्म-भविष्य की दृष्टि के अतिरिक्त का कोई अर्थ हो सकता है, अथवा किसी रहस्यवादी अनिवार्यता से सम्बन्धित अर्थ लागू करके, उसके सीधे अर्थ से पृथक् अर्थ लगाया जाता है, तो मैं उसका वैसा ही घोर विरोध करता हूँ जैसा किसी भी मानवीय नियमों के खण्डन करते समय किया जाता है। मैं इस संदर्भ में मनुष्य की आवश्यकता (Necessity) का वैसा ही विरोधी हूँ जैसा कि अन्य प्रक्रियाओं के दूषित संदर्भों का विरोधी हूँ।" पूर्व निश्चयवादिता (Determinism) को नीतिशास्त्र में मिल इससे अधिक कोई और महत्व नहीं देता।

यह नैतिक स्थापनायें मिल के राजनीति और अर्थशास्त्र सम्बन्धी दर्शन में मूल प्रेरक के रूप में कार्य करती हैं। इसलिए मिल के विचारों का अध्ययन करते समय हमें उसकी ये धारणायें बार-बार व्यक्त होती सी मिलती हैं।

अध्याय ६

जान स्टुअर्ट मिल

(राजनैतिक अर्थशास्त्र; मनोविज्ञान और ज्ञान दर्शन: स्त्रियों के अधिकार)

१. राजनैतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) -मिल के अर्थशास्त्रीय विचार उसकी नैतिक शिक्षाओं से सम्बद्ध हैं। दोनों विषयों को वह वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत करता है। जहाँ तक वैज्ञानिकता का सम्बन्ध है, वह तभी सम्भव हो पाता है जब कि प्रतिपाद्य विषय के अध्ययन में आचरण और घटनाओं से सम्बन्धित बातों का भावी रूप भी प्रस्तुत किया जा सके। उक्त स्थिति में निश्चित परिणामों का अंकन वैज्ञानिक-पद्धति की विशेषता है। जब प्रस्तुत दो स्थितिओं में से एक भी स्थिति सम्भव नहीं होती तब वह अध्ययन केवल काल्पनिक और अनुमानात्मक सीमाओं तक सीमित रह जाता है। यही कारण है कि जब उपयोगितावादी नैतिकता की व्याख्या मिल प्रस्तुत करता है, तो मानव की इच्छा शक्ति के सम्बन्ध में वह निश्चयात्मक दृष्टि पर अधिक बल देता है। इस निश्चयवाद के माध्यम से वह भावी सम्भावनाओं को देखने एवम् चरित्र विशेष के आचरण की गति-विधि को पूर्वाधारित रूप में निर्णीत करने की चेष्टा करता है। इसी सिद्धांत को वह राजनैतिक अर्थशास्त्र में भी प्रयुक्त करता है। उसकी वैज्ञानिकता मात्र इस बात पर आधारित है कि मनुष्य धन की इच्छा से परिचालित होता है। जो सिद्धांत उसकी इस शक्ति को गति देते हैं, वह उसकी धन कामना की भावनायें है, जो विभिन्न परिस्थितियों में अभिव्यक्ति पाती हैं और

निश्चित परिणामों तक उसे ले जाने की क्षमता प्रदान करती हैं। यद्यपि राजनैतिक अर्थशास्त्र का यह लक्ष्य नहीं है कि वह सीधे नैतिकता की समस्याओं से उलझे (क्योंकि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध धन के नियमों और प्रवृत्तियों के अध्ययन के साथ उत्पादन विधान, वितरण विधान तथा खपत विधानों से सम्बन्धित होता है)। फिर भी धन सम्बन्धी अध्ययन की सूक्ष्म प्रवृत्ति मनुष्य के सामाजिक चरित्र सम्बन्धी विचारों से प्रभावित नहीं होती। आर्थिक अस्तित्व अनुमानात्मक होने की अपेक्षा, विवेकात्मक रूप में निश्चित योजना के आधार पर बनता और विकसित होता है। व्यक्ति अपने लिए कार्य करता है किंतु वह दूसरों के लिए एवं समुदाय के हित के लिए भी कार्य करता है। इन लक्ष्यों को स्वीकार कर लेने के बाद अर्थशास्त्र का वैज्ञानिक आधार उसे बहुत-सी रूढ़ियों से मुक्त कर देता है। अर्थशास्त्र दुःखवादी विज्ञान (Dismal Science) भी नहीं रह जाता है, केवल पुराने अर्थशास्त्रियों तक ही यह बात सीमित होकर रह जाती है। अर्थशास्त्र का अध्ययन केवल उसी सीमा तक दुःखवादी कहा जा सकता है जिस में केवल इस आधार पर अध्ययन करने की चेष्टा की जाती है कि व्यवसायी को सस्ते बाजार से खरीद कर महँगे बाजारों में बेचना ही अर्थशास्त्र का सिद्धांत लक्ष्य बन जाता है। किंतु जब यह अनुभव होने लगा कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य केवल जड़ और निष्प्राण मालगोदामों तक सीमित नहीं है वरन् उसका लक्ष्य मनुष्य के जीवन्त तत्वों से बने हुए रक्त-मांस से है, उसके लिए अनुभूतियों और विचारों का समान रूप से होना अत्यन्त आवश्यक है, और उसका सम्बन्ध पारिवारिक सम्बन्धों से लेकर प्रजातीय अस्तित्व तक है, तो इस जागरूकता ने अर्थशास्त्र के अध्ययन में नयी शक्ति और नयी प्रेरणाओं के स्रोतों को विकसित कर दिया।

ब्रिटिश विचारकों में वे जो मिल के पूर्व हो चुके थे मिल से भिन्न थे; मिल ने राजनैतिक अर्थशास्त्र के विषय को पृथक् आधार पर विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया था। यद्यपि वह मात्र कामटे (Comte) से प्रभा-

वित नहीं था; फिर भी कुछ अंशों तक उससे प्रभावित होकर उसने अपने विचारों को सामाजिक दर्शनशास्त्र से सम्बद्ध कर दिया था: और अर्थशास्त्र के सिद्धांतों को उसी सामाजिक दर्शन के आधार पर विकसित करने की चेष्टा करने लगा था। मिल की पुस्तक में अर्थशास्त्र के सिद्धांतों को उपर्युक्त सामाजिक सिद्धांतों के आधार पर विकसित होने के नाते शीघ्र ही बड़ी ख्याति मिल गई थी। लोगों ने यह अनुभव किया कि इस प्रकार का व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक ज्ञान जिसमें कि समाज दर्शन के विभिन्न पक्षों की अवहेलना के बजाय उनकी स्वीकृति ली गई है, निश्चय ही उनके अध्ययन को और विवेचन को उचित मार्ग-प्रदर्शन करने में सहायक होगी।

अपने इस प्रजातन्त्रवादी मत के अनुसार मिल ने वैयक्तिक सम्पत्ति के प्रचलित सिद्धांत का विवेचन करके उत्तराधिकारी एवं जमीन के मिल्कियत सम्बन्धी समस्याओं पर नये परिप्रेक्षा से प्रकाश डाला था। सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसका यह विचार था कि व्यक्ति की अपनी प्रतिभा-शक्ति द्वारा अर्जित वस्तु को भोगने की पूर्ण स्वतन्त्रता, अधिकार रूप में मिलनी चाहिए।। उसे यह भी अधिकार मिलना चाहिये कि वह स्व-अर्जित वस्तु को जिसे चाहे, उसे दे दे और वह— जिसे यह समस्त वस्तुएँ प्राप्त हों—उनको जिस प्रकार चाहे, भोगे। उसने सम्पत्ति को एक सामाजिक संस्था के रूप में स्वीकार किया था। ऐसा वह मानव जाति के विकास और कल्याण के लिए आवश्यक समझता था। वह धन को कोई ऐसी वस्तु नहीं मानता था जो बहुमत को धोखा देकर अर्जित की जाय। उसका लक्ष्य अधिकांशवर्ग की दरिद्रता एवं आत्म-हीनता की भावना से द्वारा अल्पसंख्यक वर्ग को सशक्त रूप में विकसित होने का अवसर प्रदान करना नहीं है। इस प्रकार वह समाजवाद के विरुद्ध असमानता को एक सामाजिक आवश्यकता मानता था। किंतु, जहाँ वह इन अधिकारों की स्वतन्त्र सत्ता को मानता था, वहीं वह उन पर एक नियंत्रण भी आरोपित करता था। उसके मतानुसार एक पिता का अपनी सन्तान की रक्षा एवं पालन-पोषण करना

नितान्त रूप से अनिवार्य है। इसलिये यदि पिता अपनी सम्पत्ति को परिवार के बाहर किसी भी व्यक्ति को दे देता है तो उस व्यक्ति से पहले उस सम्पति पर उसकी संतान का अधिकार सर्वश्रेष्ठ माना जाना चाहिए। इसी प्रकार ज़मीन सम्बन्धी वैयक्तिक सम्पत्ति को वह निश्चित सीमाओं में ही उचित मानता था। इस सम्बन्ध में उसका यह मत था कि चूँकि ज़मीन मूल्यवान तभी होती है जब कि उसमें उचित प्रकार से खेती करके उत्पादन किया जाय, इसलिये खेती के कार्य में इससे लाभ उठाने की अवधि भी काफी लम्बी होनी चाहिये, यहाँ तक कि वह एक वर्ष तक की भी हो सकती है। इसलिए किसी भी पूँजीवादी को उस ज़मीन से लाभ उठाने का अधिकार उस समय तक नहीं मिलना चाहिए जब तक कि उस पर परिश्रम करने वाले को लाभ उठाने की पूर्ण सुविधा प्राप्त न हो गयी हो। अस्तु, इस प्रकार एक तरह से वह जमीन सम्बन्धी स्थायी अवधि का समर्थक था।

अस्तु यद्यपि जान मिल समाजवाद के बहुत से तत्वों को स्वीकार करता है फिर भी वह अपने व्यक्तिवादी मत को भी ग्रहण करना चाहता है। वह शासन व्यवस्था द्वारा आर्थिक व्यावसायिक मामलों में हस्तक्षेप किया जाना पसन्द नहीं करता था। वह यह मानता था कि राज्य का नियन्त्रण एक सीमा तक नितांत आवश्यक और उचित तो है, किन्तु सामुदायिक व्यवसाय के सम्बन्ध में यह नियन्त्रण बहुत ही सीमित और कम होना चाहिये। क्योंकि व्यक्ति की वैयक्तिक क्रिया-शीलता, स्वाधीनता और स्वगतआत्मकता की रक्षा काफी सीमा तक होनी ही चाहिये। इस प्रकार शासन का क्षेत्र बहुत कम और लाज़ेज़-फेयर (Laissez faire) की सीमा तक ही सीमित होनी चाहिए। सारांश यह कि यह सिद्धान्त उसी वक्त तोड़ना चाहिये जब किसी खास बुराई का भय हो अथवा जब किसी बड़े कल्याणकारी कार्य-क्रम की योजना आवश्यक हो। दूसरे शब्दों में उसका मूल सिद्धान्त यह था कि जनता को स्वयं अपना कार्य करने दो, क्योंकि वह स्वयं अपने कार्यों में तात्कालिक रुचि होने के नाते उसको सर्वाधिक अच्छे ढंग से

सम्पन्न कर सकते थे। शासन-व्यवस्था को समुदाय के व्यापक हित में ही कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिये। आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के विषय में मिल के यहाँ कुछ सिद्धान्त प्रमुख हैं। राजनैतिक अर्थशास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों को वह किस प्रकार देखता और समझता है, यह प्रश्न अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए उसकी पुस्तक में विशेष महत्व का है। किन्तु, यहाँ स्थानाभाव के कारण इसकी विस्तृत व्यवस्था सम्भव नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस सम्बन्ध में वह वैज्ञानिक ढंग से इसके विभिन्न पक्षों अर्थात् श्रम, पूँजी, भत्ता, लगान, लाभ, सूद की दर, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय, मूल्य, रुपया, उधार और टैक्स आदि पर विस्तृत रूप से विचार प्रस्तुत करता है और विभिन्न समस्याओं को प्रस्तुत करके उन पर विवाद करता है और उन पर ऐसे विवाद करता है जो लाभजनक हैं। उसने बड़े ही क्रांतिकारी सुधारों को प्रस्तावित किया था। उसके विचारों में विकास इस प्रकार हुए थे। सर्वप्रथम अपने प्रारम्भिक जीवन में शारीरिक श्रम करने वाले मजदूरों की आदतें को सुधारने और उनको विकसित करने के प्रति आग्रहशील था। इस उद्देश्य के लिये उसने शिक्षा पर विशेष बल दिया था और उसने मजदूर वर्ग से यह आग्रह किया था कि वह धनिक वर्ग के प्रति पैतृक अवस्था के साथ आश्रित रहें और उसने शिक्षा के माध्यम से उनमें यह विवेक उत्पन्न करना चाहा था कि वह अपने विषय में विचार करके स्वयं निर्णय देने की शक्ति विकसित कर सकें। उनका भविष्य उन्हीं के हाथों में है और जिस चीज की सुविधा उन्हें होनी चाहिये वह न्याय और स्वशासन की सुविधाएँ हैं। पर्याप्त शिक्षा प्राप्त करने और बौद्धिक विकास में वृद्धि होने के साथ-साथ स्वाधीनता के प्रति प्रेम की भावना विकसित हो जाने पर उसकी यह निश्चित धारणा थी कि मजदूर वर्ग की आदतों और रहन-सहन में परिवर्तन आ सकेगा और उनमें वह विवेक भी उपजेगा जिससे वे अपनी सन्तान को अपनी अर्जित आमदनी के आधार पर ही उनकी रक्षा करके विकसित कर सकेंगे। दूरदर्शिता

बड़ी आवश्यक वस्तु है और माल्थूसियनिज्म निश्चय ही उस दूरदर्शिता का प्रतिनिधित्व करता है। इस लिए यदि स्त्री और पुरुष दोनों को औद्योगिक कार्यों में समान रूप से कार्य करने का अवसर मिल सकेगा तो निश्चय ही इसका प्रभाव उनके जीवन पर भी पड़ेगा।

उसके इन विचारों का एक निश्चित प्रभाव पड़ा था। किन्तु मिल उससे भी आगे गतिशील होना चाहता था। पहले तो उसने समाजवाद का विरोध किया था और उसकी आलोचनात्मक व्याख्या करते हुए सहानुभूतिहीन ढंग से देखा था। किन्तु, बाद मे अध्ययन के विकास के साथ-साथ वह उसके गुणों से अवगत हो जाने के बाद समाजवाद की बहुत सी बातो का समर्थक हो गया था। समाजवाद के अतिवादी रूप से उसे कोई भी सहानुभूति अन्त तक नही था। जैसे वह भूमि का राष्ट्रीयकरण करने का समर्थन कभी भी नही कर सका। साधारणतया वह समाजवाद के उस रूप को कभी भी स्वीकार नही कर सका जो व्यक्ति के अस्तित्व का तिरस्कृत करने के पक्ष में है। ठीक इसी प्रकार से वह व्यवसाय के सम्बन्ध मे समाजवादियों की भाँति प्रतिस्पर्द्धा (Competition) के विचार का समर्थन नहीं कर पाया। इसके विपरीत वह यह मानता था कि व्यापार को सफलीभूत बनाने के लिए और एकाधिकरण की विषमताओं से बचने के लिए प्रतिस्पर्धा की भावना नितांत आवश्यक है। किन्तु वह ट्रेड-यूनियनवाद (Trade Unionism) का घोर समर्थक था और समाजवादी विचारधारा के अनुरूप स्वगत-सहकारिता के सिद्धांत को निःसंकोच भाव से स्वीकार करता था। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक पोलिटिकल एकानोमी के तृतीय संस्करण में उसका विख्यात अध्याय श्रमिक वर्ग के भविष्य से सम्बन्धित विश्लेषण प्रस्तुत करता है और अपनी व्याख्या में यह सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि पूँजीवादी वर्ग श्रमिक वर्ग के उद्धार और कल्याण में उसी प्रकार रुचि रखता है और समान हितो की रक्षा चाहता है, जिस प्रकार कि श्रमिक वर्ग अपने हित के लिए इच्छुक और सक्रिय चेष्टा करना चाहता है। अस्तु, उसकी यह धारणा है कि जितने

अधिक व्यावसायिक उद्योग विकसित होंगे उतना ही अधिक श्रमिक-वर्ग का कल्याण भी होगा। किन्तु उसके लिए यह आपेक्षित है कि उन व्यक्तियों और लोगों में सम्पर्क और सहयोग स्थापित हो, जो कि समान हितों के कारण एक सूत्र में बँधे हुए हैं। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि इस सहयोग और सम्पर्क के आधार पर ऐसी लौकिक भावना प्रजनित हो जिससे न्याय, समानता और भावनाओं के आधार पर व्यापक सन्दिग्धता विकसित हो सके। इसके लिए दो प्रकार के सहयोगों को स्थापित करना चाहता है। पहला तो श्रमिकों के संघों का आपस में सहयोग और दूसरा श्रमिक संघों का पूँजीवादी संघों से सहयोग।

इस प्रकार वैयक्तिक सम्पत्ति के विषय में साधारण रूप से और जमीन की मिल्कियत के सम्बन्ध में विशेष रूप से मिल ने अपने समकालीन सामाजिक व्यवस्थाओं और सीमाओं को स्वीकार करते हुए उनकी व्यवस्था में व्याप्त असमानता को दूर करने का प्रयास किया था। उसने जेष्ठ पुत्र सम्बन्धी उत्तराधिकार को उन्मूलित करने एवं उसको संशोधित करने के पक्ष मे विशेष आग्रह किया था। इसी प्रकार उसने जमीन सम्बन्धी सुधारों को, जो कि आयरलैण्ड में विशेष रूप से विकृत अवस्था में थे और जहाँ कि किसानों के अधिकार सम्बन्धी विधायक असन्तुलित थे, संशोधित करने का सुझाव रखा था। उसने देश में स्थित सम्पत्ति के विषय में और लौकिक हित से सम्बन्धित विषयों में अपनी शिक्षा के अनुसार स्पष्ट मत प्रकट किये थे और यह कहा था कि राज्य सत्ता को जमीन सम्बन्धी पूर्ण अधिकार है कि वह समुदाय के हित और आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किसी भी जमीन को जिस तरह चाहे प्रयोग में ला सकती है और ऐसी स्थितियों में जब कि रेलवे लाइन या नदी, सड़कों से सम्बन्धित प्रस्ताव पास हो जाते हैं तो वह किसी भी जमीन को अपनी रुचि के अनुसार प्रयोग में ला सकती है। जमीन सम्बन्धी विचारों में जिस वर्ष उसकी मृत्यु हुई है (१९७३), बहुत प्रभावपूर्ण बात लिखी

थीं। उसने यह कहा था कि ऐसी परिस्थिति में जब कि कोई ज़मीन जायज तरीके से किसी के अधिकार में हो किन्तु वह उससे समुचित रूप से धन अर्जित करने में असमर्थ हो, तो उस जमीन का निरीक्षण राज्य द्वारा होना चाहिए।

जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे मिल की सहानुभूति श्रमिक वर्ग के प्रति सशक्त एवं तीव्र रूप में विकसित होती गयी और जब उसने उनकी कठिनाइयों को स्पष्टतया अनुभव कर लिया तो इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि यह सिद्धांत गलत है कि समाज में कुछ लोग जन्म से ही धनी और सम्पन्न हों और अधिकांश दरिद्रता में रहें। उसका तर्क इन विषयों की क्रमिक स्थापनाओं में विशेष सहायता पहुँचाता है। उसकी जागरूक और नई अनुभूतियों से सम्पन्न बुद्धि तथा शैली की स्पष्टता, उसके विषय-प्रवर्तन को अद्वितीय रूप प्रदान कर देते हैं। उसकी आत्मानुभूति और दृष्टि, तथ्यों को ग्रहण करने में कभी भी असफल नहीं होती। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में इसकी कृतियाँ एक निश्चित स्थान रखती है।

•. मनोविज्ञान और ज्ञान-दर्शन (Psychology and Theory of Knowledge)—यद्यपि अपने मूल रूप में मिल एक प्रधान मनोवैज्ञानिक ही है फिर भी मनोविज्ञान से सम्बन्धित उसकी कोई विशेषकृति नहीं है। इस सम्बन्ध में उसके विचार तर्कशास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न स्थलों पर व्यक्त हुए हैं। जैसे उसने सत्य के आधार भूत तत्वों से सम्बन्धित ह्वेवेल (Whewell) और हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) की विपक्षीय धारणाहीनता की व्याख्या का विवेचन करते हुये उसने अपने मनोवैज्ञानिक ज्ञान का महत्वपूर्ण परिचय दिया है। उसके इन विचारों का परिचय और उनका विकास यूटिलिटेरियनिज्म नामक पुस्तक में हुआ है कि उसकी वृहद् व्याख्या इक्जामिनेशन आफ सर विलियम हैमिल्टन्स फिलासफी तथा अपने पिता द्वारा लिखित एनालिसिस आफ द फेनामेना आफ द ह्यूमन माइण्ड के नये संस्करण की भूमिका में प्रस्तुत हुई है। नैतिक-शास्त्र के सम्बन्ध में

उसके इच्छा शक्ति सम्बन्धी सिद्धांत और कामना (Desire) सम्बंधी विचारों में हम उसके विचारों से परिचित हो चुके हैं। उसको यहाँ दुहराना उचित न होगा। यहाँ पर मात्र इतना परिचय दे देना पर्याप्त होगा कि वे कौन से प्रमुख आधार हैं जिनके बल पर वह बौद्धिक तथ्यों और उनसे सम्बन्धित विचारों को प्रतिपादित करता है। इस सम्बन्ध मे विभिन्न मतवादियों के ज्ञान सम्बन्धी उत्पत्तियों और तत्वों पर बहुत मतभेद है। (अथात यह मतभेद आत्म-शक्ति और अनुभूति के मूल्यों को लेकर ही विकसित हुए है।) और बाह्य यथार्थ की प्रकृति और उसके अर्थ-बोध अथवा इन्द्रिय-उद्बोधन को लेकर विचारों की विभिन्नता प्रकट की हैं।

यह विवाद मानसिक प्रकृति, आत्मा और अहं और भौतिक अस्तित्व के विरोध में प्रस्तुत की जाने वाली बौद्धिक वस्तु-परकता एवं निरपेक्ष तथ्यों को लेकर प्रस्तुत हुए हैं ज्ञान की उपयुक्तता और उसकी मूल-स्रोत सम्बन्धी समस्याएँ इस प्रकार हैं—क्या मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान अनुभूतियों द्वारा प्राप्त और व्यक्त हो सकता है या ज्ञान और उसके तत्व ऐसे भी हैं जिन्हें अनुभूति ग्रहण करने में असमर्थ है चूँकि अनुभूति के साथ यह निश्चित रूप से माना जाता है कि उसके परे कोई ज्ञान नहीं है। इसीलिए यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान मुख्यतः (a priori) है या यह बुद्धि का एक जन्मजात अंग है। मिल और उसके विचार वालों ने बिना संकोच के यह कह दिया था कि अनुभूति सम्पर्कात्मक आधार पर कार्यान्वित हो ज्ञान के विभिन्न रूपों और प्रकारों को व्यक्त करने में समर्थ है और आत्मशक्ति यद्यपि एक सत्य है फिर भी यह शक्ति आनन्द अनुभूतियों के पुनरावर्तन एवं विरोध भाव से ही विकसित होती है। मिल के विरोधी विचार वालों का यह मत था कि यद्यपि अनुभूति ज्ञान की उपलब्धि में बहुत बड़ा योगदान देती है और ज्ञान की अभिव्यक्ति और उसके विकास में विशेष सहायक सिद्ध होती है फिर भी ज्ञान के कुछ अंग ऐसे हैं जिनकी प्रकृति ऐसी होती है कि उनको अनुभूतियों के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि वे स्वयं

अनुभूतियों के माध्यम से नहीं उपजते। यह प्राकृतिक विशेषताएँ अनिवार्यता (Necessity) और नितान्त निश्चयात्मकता के रूप में प्रस्तुत होती हैं जिन्हें किसी भी मात्रा में व्याप्त अनुभूति भी व्यक्त नहीं कर सकती किन्तु बौद्धिक स्तर पर जो स्वतः विकसित होती और कार्य करती है। अनुभूति केवल स्थिति (is) को व्यक्त कर सकती है और सम्भावित को प्रमाणित कर सकती है किन्तु, यह आवश्यक (Must) और अवश्यम्भावी (Ought to be) को प्रजनित करने में असमर्थ है। आत्मवादी (Intuitionist) की यह निश्चित धारणा थी कि गणित के सिद्धान्तों और कारकों के सिद्धान्तों को अनुभूति नहीं व्यक्त कर सकती।

मिल ने इस सम्बन्ध में अपना यह कर्त्तव्य समझा था कि वह किन विभिन्न प्रकारों से तत्सम्बन्धित आवश्यक सत्यों को उद्घाटित करके उनमें विश्वास की निश्चयात्मकता अनुभूति द्वारा एवं सम्पर्कवाद के नियमों के अनुसार विकल्पित स्थितियों द्वारा उसे प्रस्तुत करके अपने दायित्व का परिचय दे। उसका यह भी मन्तव्य था कि वह अनुभूत्यात्मक दर्शन के मूल्यों को स्थापित करे और आत्मवादी ब्रिटिश दर्शन से मुक्ति लेकर उन भ्रमों और अनैतिकताओं से विचारों की रक्षा करे, किन्तु वह यह भी चाहता था कि अविवेकपूर्ण पूर्वग्रहों से सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और राजनैतिक विषयों में जो मानसिक स्वाधीनता और प्रगति में बाधाएँ पहुँचती हैं उनसे भी छुटकारा ले ली। वह कहता था—"यह कहना कि बौद्धिक शक्तियों और क्षमताओं से परे कोई दूसरा सत्य है जो आत्मशक्ति और चेतना-शक्ति द्वारा बिना परीक्षण और अनुभूत्यात्मकता को जाना जा सकता है—मेरे मतानुसार इस प्रकार के गलत सिद्धांतों द्वारा तथा विकृत संस्थाओं द्वारा मेरे विचारों को परिवर्तित करना असम्भव है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अन्ध-विश्वास और ऐसी उत्तेजनापूर्ण भावनाएँ, जिनके आदि के सम्बन्ध में प्रायः हम अज्ञात रहते हैं उसको तर्कसंगत बनाने और जो तर्कयुक्त नहीं है उनको तिरस्कृत करने को ऐसी पद्धति विकसित हो सकेगी जो

स्वावलम्बी और औचित्य का विवेक स्थापित करने में सहायक होगी। इससे पहले कभी-कभी गहरे पूर्वाग्राहों को मिटाने के सफल माध्यम नहीं सम्भव हो पाते थे।" यहाँ यह बात स्पष्टतया देखी जा सकती है कि सामाजिक संस्थाएँ और बौद्धिक विश्वास प्रायः आत्मसम्वेदना की भावना से सम्बद्ध होते हैं। मिल के सैद्धान्तिक वाद-विवाद को इस तर्क द्वारा एक नया परिप्रेक्ष्य मिल गया था।

मिल का यह कथन था कि आत्मानुभूति का परीक्षण करना आवश्यक है। किंतु यदि उनका परीक्षण किया जायगा तो यह भी सत्य है कि वे आदिम सत्य के रूप में अथवा विवादहीन भावस्थिति में स्थापित नहीं हो पाएँगे। उनका परीक्षण अनुभूतियों के आधार पर ही किया जा सकता है जो अनुभूतियों के आधार पर परीक्षा में सफल उतरेंगी, वही स्वीकार की जा सकती हैं और वे जो इस प्रयोग में असफल हो जायँगी, उनका रद्द होना अनिवार्य होगा।

इस प्रकार आत्म-शक्तिवाद का खण्डन करने में मिल को बुद्धि और भौतिक तत्वों तथा अनुबोधित बाह्यजगत के प्रकृति सम्बन्धी विषयों पर विचार करना अनिवार्य हो गया है। इस सन्दर्भ में उसकी स्थिति सर्वथा भिन्न है: बाह्य यथार्थ का ज्ञान हमें सम्वेदनाओं में और उनके द्वारा प्राप्त होता है। यदि कोई ज्ञान ऐसा है जो बिना इन सम्वेदनाओं के भी प्राप्त हो सकता है तो वह पद्धति गलत है और उसका कोई अर्थ नहीं है। बाह्य-तत्व एक विशेषताओं का समूह होता है जिनका बोध हमें ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है और जो एक विशेष प्रकार की सम्पर्कात्मक सम्वेदना से सम्बद्ध होती हैं, इनके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है और न कोई तत्व है जो इन सम्वेदनाओं के अतिरिक्त निहित रूप में पायी जा सके। तत्ववेत्ताओं के मतानुसार कोई भी वस्तु अपने में कुछ नहीं होती (thing in itself) तत्व को स्वयम् में ही पूर्ण मानना कोई अर्थ नहीं रखता। हमारे प्रतिबोधन की प्रक्रिया में जो चीज पूर्ण रूप से प्रदर्शित होती है वह सम्वेदना है ऐसी सम्वेदना जिसका सम्बन्ध हमारी तात्कालिक वस्तुस्थिति से होता है और उसका सम्बन्ध हमारी सम्भा-

वित आकांक्षाओं (Expectations of Positive Sensations) से भी होता है क्योंकि वे थोड़े समय के लिए विराम उपस्थित करके शान्त हो जाती हैं। प्रमाण के लिए जैसे यह कुर्सी जो हमारे सामने है वह मेरी अनुभूति को कुछ ऐसी सम्वेदनाएँ प्रदान करती है (जैसे स्पर्श, दृष्टि और पेशीसंवेदनाएँ) जो कि हमें इस बात का बोध प्रदान कराती हैं कि वह कुर्सी है। जब हम उस कमरे से बाहर चले जाते हैं तो हमें यह विश्वास होता है कि यदि हम फिर कमरे में प्रवेश करें तो हमें वही सम्वेदनाएँ मिलेंगी जो कि पूर्वतः मिली थीं। मैं यह नहीं मानता कि कमरे से पृथक् होने के साथ-साथ उसकी संवेदनाएँ भी नष्ट हो गई हैं वरन् हम यह मानते हैं कि हम उन सम्वेदनाओं की कल्पना करते हैं जो कि मुझे उस समय अनुभव हो रही थीं जब हम कमरे में थे और जिन्हें हम फिर कमरे में प्रवेश करते ही फिर अनुभव करने लगेंगे। वास्तविक और सम्भावित सम्वेदनाओं का यह सम्मिश्रण आकांक्षाओं के साथ मिलकर ठीक वही बोध प्रस्तुत करता है जिसे मैं स्थायी (Permanance) के नाम से सम्बोधित करता हूँ और जो बाह्य जगत की वस्तुओं का चरित्र विशेष का बोध प्रस्तुत कराने के साथ-साथ आंतरिक जगत की वेगशील अनुभूतियों से प्रथक अनुभूति प्रदान करने में सहायक होता है। यह प्रतिबोधन मुझे पृथक बाह्य जगत के स्वतंत्र अस्तित्व का भी ज्ञान कराता है। तदनुसार मिल तत्व की व्याख्या प्रस्तुत करते हुये यह सिद्ध करना चाहता है कि संवेदनाओं का स्वतंत्र अस्तित्व भी संभव हो सकता है (Permanent Possibility of Sensation)। यह कोई रहस्यात्मक और ज्ञानपर्यंक वस्तु नहीं है वरन् यह मात्र मेरे संवेदनशील अनुभूति की कुछ परिकल्पनाओं का बोध कुछ सीमित परिचय में और स्पष्ट विधियों में प्रस्तुत करता है। किसी भी कुर्सी का समस्त प्रतिबोधन शक्तियों के गुण (कठोरता, रंग, रूप इत्यादि) से पृथक अस्तित्व मानना प्रतिबोधन शक्ति के अतिरिक्त कुर्सी के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा। किन्तु यदि कुर्सी का अस्तित्व है तो उसके कठोर, रंग रूप आदि के गुणों का भी उसके साथ होना परम आवश्यक

है। अस्तु गुण विहीन कुर्सी की कल्पना निरर्थक और गलत है।

वाह्य जगत सम्बन्धी इस सिद्धांत को दर्शनशास्त्र में मनोवैज्ञानिक आदर्शवाद (Psychological Idealism) के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

किन्तु भौतिक तत्वों के अतिरिक्त मानसिक चेतना का भी अस्तित्व है। मिल के मतानुसार यह भी मनुष्य की अनुभूति और सम्पर्क शक्ति की अपेक्षा पर ही अस्तित्व रखते हैं। मिल इन शक्तियों को स्थायी सम्भावित अनुभूतियों (Permanent Possibility of Feeling) के रूप में स्वीकार करता है। वह यह भी स्वीकार करता है कि मानसिक, स्वत्व अथवा अहम् (Mind, Self or Ego) के स्तर पर मानव चेतना में भौतिक तत्वों के स्पष्ट संदर्भों के अतिरिक्त भी संदर्भ होते हैं। मानसिक चेतना का यह गुण है कि वह स्थिति मात्र न रहकर, उन स्थितियों की चेतना भी अपने में संग्रहीत रखता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य का अहम और उसका स्वत्व उसकी मानसिक स्थितियों को एक सूत्र में बाँधे रखने में है उसी प्रकार सहायक होता है जैसे एक धागा माला के दानों को एकत्र रखने में सहायक होता है। यह कैसे होता है इसकी व्याख्या करना कठिन है, किन्तु हमें यह जैसा है उसी रूप में स्वीकार कर लेना चाहिये।

अनुभूति की इस भावस्थिति की सत्यता के साथ मिल मनुष्य के सापेक्ष ज्ञान पर भी बल देता है और विषय और वस्तु की सापेक्षता को ज्ञान के लिए आवश्यक मानता है। किसी भी ज्ञातव्य के साथ ज्ञात के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को वह अनिवार्य रूप से ग्रहण करता है क्योंकि विषय माध्यम वस्तु की अपेक्षा के साथ संदर्भित होता है और जिस सीमा तक विषय माध्यम वस्तु को जानने की क्षमता रखता है उसी सीमा तक वस्तु का ज्ञान उसे उपलब्ध हो पाता है यद्यपि यह भी सत्य है कि वस्तु में उस तत्व के अतिरिक्त भी गुण होते हैं जो कि उच्चस्तर के विषय-माध्यम द्वारा जाने जा सकते हैं या वही विषय-माध्यम अधिक क्षमताओं को प्राप्त करने के बाद वस्तु का वृहत् ज्ञान अर्जित कर सकता

है। इस प्रकार मिल 'निरपेक्ष' अथवा ईश्वर के तत्व को स्वीकार करता है। किन्तु चूँकि ज्ञान निरी सापेक्ष वस्तु है इसीलिए उसके लिए नितांत निरपेक्ष अस्तित्व का कोई मतलब ही नहीं होता। यदि निरपेक्ष का मतलब यह है कि वह गुणविहीन तत्व है और उसका संदर्भ किसी संदर्भ में न होकर केवल आत्म-अस्तित्व की सीमा तक ही सीमित है और उसका किसी भी अन्य वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है या यह कि उसके गुणों को हम नहीं जान सकतें—तो ऐसी दशा में ऐसे निरपेक्ष ज्ञान का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार की निरपेक्ष स्थिति (absolute) जिसका कि हमारे लिए आंशिक रूप में भी कोई अर्थ हो सकता है वह मानव बुद्धि और मानव अनुभूति द्वारा सहज और प्राप्य होने चाहिये, भले ही वह मानव व्यक्तित्व से बहुत ऊँचा और सर्वोपरि क्यों न हो। सर विलियम हैमिल्टन की शिक्षा और विचार, विशेषकर जो उसके शिष्य डीन मैन्सेल द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं वे वही हैं जिन्हें मिल ने यहाँ प्रतिपादित और घोषित किया है। एक ऐसा व्यक्तित्व जो हमारी कल्पना के परे है और जिसे हम सहज रूप में नहीं जान सकते—जैसा कि डीन मैन्सेल (Dean Mansel) ने अपने बैम्प्टन लेक्चर्स (Bampton Lectures) में दि लिमिट्स आव रिलीजस थाट्स (The Limits of Religious Thoughts) में घोषित किया है उसके अनुसार ईश्वर की कल्पना स्वयम् विरोधों से भरी हुई है। ईश्वर की एक ऐसे प्राणी रूप में कल्पना करना जो न जान सकता है, न प्रेम कर सकता है, न इच्छा कर सकता है अथवा उसके बारे में यह कहना कि वह केवल नैतिक तथ्यों का ही प्रतिनिधित्व करता है, या यह कहना कि उस ईश्वर में और मनुष्य में कहीं किसी स्थल पर कोई साम्य है और फिर भी यह मानना कि ऐसा ईश्वर केवल आस्था, विश्वास और पूजा की वस्तु है सर्वथा गलत है और बुद्धिहीनता का परिचायक होने के साथ-साथ दुष्टतापूर्ण एवम् नितांत अनैतिक है क्योंकि यह प्रवृत्ति हमें गुलाम बनाती है और ढोंग करने

की प्रेरणा देती है। किसी भी ऊँची कल्पना के लिए मानव अनुभूति को आधार मानना श्रेयस्कर है। जो निरपेक्ष है उसे निरा निरपेक्ष ही रहने देना चाहिये और उसका गुणात्मक परिचय भी ऐसा देना चाहिये (जब ये गुणात्मक शब्द अर्थहीन हो जायँ तब की बात और है) जिसका साक्षात्कार और जिसका महत्व हमारी पहुँच में हो चाहे वह जितनी निम्न मात्रा में ही क्यों न हो (जैसे बुद्धि, अच्छाई, न्याय, प्रेम इत्यादि) ताकि उसके उस आंशिक सत्य को हम जान और समझ सकें।

इस प्रकार ऊँची कल्पनाओं से सम्बन्धित समस्यायें ही मिल के यथार्थ की समस्यायें हैं और (इसीलिए वह मात्र शास्त्रीय विवेचन तक ही सीमित नहीं रह जाती) उनका व्यावहारिक प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता रहता है। वह इस सूक्ति में कि 'मनुष्य ही सब का मापदण्ड है' बड़ा अर्थ पाता है और विलियम जेम्स और अन्य प्रैगमेटिक विचारकों को इस से बड़ा बल मिलता है।

३. नारी-अधिकार (Women's Right)—मिल सर्वप्रथम जीवन की उन सामाजिक और वैधानिक असंगतियों से ही विशेष प्रभावित हुआ था जिनके अन्तर्गत नारी का जीवन पुरुषों के स्वतंत्र और साधिकार जीवन की अपेक्षा अधिक संकटपूर्ण था। कानून और विधायक, जनमत द्वारा केवल एक ही अधिकार नारी वर्ग के लिए उपयुक्त समझते थे और वह था—वैवाहिक जीवन के साथ घर-गृहस्थी की देखभाल करना जिसमें बच्चों का प्रजनन और उनकी सेवा-सुश्रुषा भी शामिल था। ऐसा करने में भी उस समय के कानूनों तक में स्त्री को पुरुष से नीचे स्तर का प्राणी इस सीमा तक माना गया था कि पति को अपने अधिकारों और आधिपत्य को सुरक्षित रखने के लिए स्त्रियों की स्थिति को गुलामी की दशा तक बदल दिया था। वैवाहिक जीवन के क्षेत्र के बाहर स्त्रियों के लिए कुछ भी शेष नहीं बचा था। यदि वह अकेले रहना चाहती तो उसका जीवन नितांत करुणाजनक और टूटा हुआ-सा बना था। उसे उस सीमा तक शिक्षा का अधिकार नहीं दिया गया था जिस सीमा तक कि पुरुष को अधिकार

मिला था। विश्वविद्यालयों की शिक्षा और उच्च शिक्षा के द्वार उसके लिये सर्वथा बन्द थे। वह सार्वजनिक जीवन में भी भाग नहीं ले सकती थी और उसे इस सीमा तक हतोत्साहित किया जाता था कि साधारणतया वह किसी भी सार्वजनिक आंदोलन के विषय में अपनी रुचि का भी प्रदर्शन नहीं कर सकती थी। बहुत से महान पद और पारितोषिकों से स्त्रियों को जानबूझ कर अलग रखा गया था। ऐसी स्थिति में स्त्रियों को भी मतदान का अधिकार देने अथवा उनका राजनैतिक कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेने की बात या पार्लियामेंट की सदस्यता की बात करना इतनी विद्रोही चीज मानी जाती थी कि उसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। यह दशा विक्टोरिया के युग के मध्यकाल के बाद सुधरी जब कि जनता ने स्त्रियों के अधिकार को स्वीकार किया और उन्हें समानता प्रदान की।

मिल की न्याय सम्बंधी धारणा इस स्थिति की कल्पना से ही विद्रोह कर बैठती थी और इसीलिए वह इस असमानता के विरोध में और उसको दूर करने में पूर्ण रूप से लग गया था क्योंकि वह ऐसे व्यवहार को पूर्ण रूप से अन्यायपूर्ण मानता था और उनके विरोध में व्यावहारिक दृष्टि के अंतर्गत स्त्रियों के पक्ष को प्रचारित करना चाहता था। वह नारी जाति को बन्धनमुक्त करने के लिए बड़ा उत्सुक था और उन्हें उनकी अधीनता को शीघ्रातिशीघ्र दूर कराने के कार्य में संलग्न था। वह अपने को ही वह पहला पार्लियामेंट का सदस्य मानता था जिसने कि स्त्रियों के मुक्ति की आवाज पार्लियामेंट में उठाई और उनके मताधिकारों को सुचारु रूप से देने का स्वर प्रसारित किया था। इस सम्बन्ध में उसने नारी-स्वाधीनता के पक्ष में एक जन आंदोलन तक चला दिया था। वह लन्दन की कमेटी आव दि सोसायटी आफ वोमेंस सफ्रेज नामक संस्था से बहुत निकट का सम्पर्क रखता था और १८७१ के बड़े ही संक्रमण की स्थिति में उसने अपने माध्यम से ही इस संस्था को विश्रृङ्खल होने से बचा लिया था। यह कार्य जैसा कि मिल ने स्वयम् राबर्टसन (Robertson) के नाम लिखे गये एक पत्र (इन पत्रों में से

एक पत्र जिस की प्रति इस पुस्तक के लेखक के पास आज भी सुरक्षित है) में किया है स्पष्ट हो जाता है कि वह राबर्टसन की ही सहायता से उस संस्था को सुरक्षित रखने में सफल हो पाया था। इस प्रकार का खतरा उस संस्था के ऐसे सदस्यों के कारण उपस्थित हो गया था जो स्त्रियों के मतदान की समस्या को सी० डी० एक्ट के रद्द करने के आंदोलन से सम्बद्ध कर देना चाहते थे।

मिल की यह निःस्वार्थ रूप से स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा का मत-प्रचार दो प्रमुख सिद्धांतों के आधार पर विकसित हुआ था। (अ) प्रथम तो यह था कि वह व्यक्ति के चरित्र को किसी सीमा तक परिवर्तनशील मानता था (देखिए उसकी आत्मकथा, पृष्ठ १०८) और दूसरे वे वाह्य कारण एवम् परिस्थितियाँ जो मानव मात्र में विभिन्नता स्थापित करने में सहायक होती हैं। (ब) उसका मत था कि यदि स्त्री और पुरुष के यह भेद (उन शारीरिक और भौतिक अन्तरों के अतिरिक्त) मात्र वाह्य कारणों के नाते है तो यह सरलता के साथ मिटाये जा सकते हैं। इसीलिये उसने जानबूझ कर यह किया था कि स्त्री और पुरुष के भेद-भाव बुनियादी और अनिवार्य नहीं है वरन् इसके विपरीत यह भेद-भाव मनुष्य ने मात्र इसलिए पैदा कर लिये हैं क्योंकि उसने काफी समय तक स्त्री जाति को दूसरे रूप में देखा है और उसे दूसरे रूप में स्वीकार किया है। इसके विपरीत यदि स्त्रियों को सर्वथा नई परिस्थिति में कार्य करने का अवसर दिया जाय और स्त्रियों को सामाजिक और राजनैतिक स्वाधीनता मिल जाय तो ये वाह्य कारण स्वतः नष्ट हो जायँगे। चूँकि ये कारण केवल इसलिए आ खड़े हुये हैं क्योंकि एक प्रकार की लगातार शक्ति का प्रयोग पुरुष ने जनता के साथ सदैव किया है और उसे न्याय और कानून के अधिकार से सदैव वंचित रक्खा है इसीलिए जहाँ शक्ति का प्रयोग हटाया जायगा और उसके विपरीत न्याय की दृष्टि अपनायी जायगी तो निश्चय ही इस प्रकार की भ्रामक धारणायें नष्ट हो जायँगी।

जिन तर्कों पर उसने अपने विचार आधारित किये थे वे इस प्रकार

के थे : देश में स्त्रियों का स्थान बहुत ही भ्राँतिजनक स्थिति का परिचायक है। आज भी बहुत से लोग सरकारी पदों से मात्र इसलिये वञ्चित रखे जाते हैं क्योंकि वे किसी जन्मगत रूप में एक उपेक्षित वर्ग में पैदा हो गये हैं। इस दोष से स्वयम् सम्राट के वंश वाले भी नहीं वंचित हैं क्योंकि यद्यपि सम्राट का पद खान्दानी रूप से उत्तराधिकार नियमों से प्रशासित है तो भी किसी भी देश के वैधानिक नियमों ने ऐसा रूप धारण कर लिया है कि देश की वास्तविक सत्ता प्रधान मन्त्री के ही हाथों में रहती है और सम्राट के हाथ में कुछ भी नहीं रह जाता। प्रधान मंत्री अपनी सत्ता जन्मजात रूप में नहीं पाता वरन् वह इस पद को अपनी योग्यता के आधार पर ग्रहण करता है। ऐसी स्थिति में किसी भी वर्ग को अधिकारों से वंचित रखना स्वतः अन्यायपूर्ण है क्योंकि ऐसा करने में देश की अनुभूति का समर्थन उसे नहीं प्राप्त है। यह नहीं है कि केवल स्त्री वर्ग ही विचारों और कर्मों के क्षेत्र से वंचित रखा गया है वरन् स्त्री वर्ग के अतिरिक्त भी एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसे व्यक्तियों का है जिसे अपनी प्रतिभा का प्रयोग करने का अधिकार आज तक नहीं प्राप्त हो सका और इस तरह उन्हें अपने गुणों को प्रदर्शित करने का भी अवसर नहीं मिला है। यह सब होते हुए भी यह बात बड़े महत्व की है कि जहाँ कहीं भी इस उपेक्षित वर्ग को कुछ भी कार्य करने का अवसर मिला है वहाँ इसने अपने क्षेत्र में अद्वितीय प्रतिभा और क्षमता का परिचय दिया है और पुरुषों के समान योग्यता भी प्रदर्शित किया है। स्त्रियों के इस गुण की सर्वथा अवहेलना को गई है और सचेष्ट ढंग से उनके महत्व को घटा कर प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार का व्यवहार आधुनिक युग की प्रगतिशील और जागरूक प्रवृत्तियों के विरुद्ध है। आज के युग की आधुनिक विचारधारा को जो सिद्धांत मुख्य रूप से अनुशासित करता है वह यह कि मनुष्य जन्म के कारण अपने वैयक्तिक विकास (भौतिक और बौद्धिक) से वञ्चित नहीं किया जा सकता अर्थात् कोई जन्म से किसी विशेष व्यवसाय, पेशा या कार्य का अधिपति नहीं होता

और न यह ही है कि वह अपनी उन जन्मजात सीमाओं से ऊपर नहीं उठ सकता जिनसे वह असंतुष्ट अथवा जिन्हें वह अपने महत्वाकांक्षाओं के पथ में बाधक मानता है। इसके विपरीत आधुनिक युग की विचारधारा यह है कि प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र जन्मा है और उसे पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है कि वह जब जैसा स्थान अपनी योग्यता अनुसार बना ले तब वह उसका समुचित रूप में उपभोग कर सके और इस स्थिति को प्राप्त करने में दूसरों के मत और अपनी योग्यता अनुसार प्रत्येक अवसर का उपभोग कर सके। "स्वतंत्र सुविधा और पक्षपातहीनता (यदि सहज रूप में कहा जाय तो) ही प्रगति की शर्त है जो हर जगह स्त्रियों के प्रति अन्याय और हिंसा के आचार के अतिरिक्त स्वीकार की गई है और मानी गई है। स्त्रियों की असुविधाओं को दूर करने और उनके सामाजिक, राजनैतिक बंधनों को मुक्त करने में जो विरोधी तत्व कार्य करते हैं वे या तो प्रथा दोष से सञ्चालित होते हैं या द्वेषपूर्ण व्यवहार द्वारा प्रशासित होते हैं। जब स्त्रियों की स्वतंत्रता के विरोधी यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि स्त्रियों का राजनीति में भाग लेना अप्राकृतिक है और उनका पुरुषों के साथ प्रतियोगी के रूप में ऐसी नौकरियों और व्यवसायों में प्रवेश करना जो उनके लिए वर्जित है अस्वाभाविक है तो इसका वास्तविक अर्थ यह है कि ऐसा प्रचलन नहीं रहा है और प्रचलन के विरुद्ध जा कर व्यवस्थित स्थायित्व को खण्डित करना है। किंतु यद्यपि प्रचलन और प्रथा किसी विवेक की शक्ति को कुण्ठित करने में सहायक होते हैं फिर भी विवेक की दृष्टि से वे अकाट्य और पवित्र नहीं माने जा सकते। 'न्याय क्या है ?' और 'प्रगति क्या है'—यही दो प्रश्न हैं जो मूल रूप से विचारणीय है और इसका निर्णय ही मुख्य समस्या है जिनका निर्णय वस्तुस्थिति की सापेक्षता में ही किया जाना चाहिये। "यह भी कहना संगत नहीं है कि दोनों वर्गों में कार्यविभाजन प्रकृति की सुगमता के कारण हुआ है और यह विभाजन नितांत सत्य और सही है। साधारण बुद्धि और मानव की मानसिक शक्ति के गठन के अनुसार यदि कोई भी व्यक्ति इन दोनों वर्गों के प्राकृतिक गुण और क्षमताओं को अन्तिम ज्ञान,

कोई एक व्यक्ति केवल वर्तमान स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों के अनुरूप जानने का दावा करता है तो गलत है और मैं उसका घोर विरोध करता हूँ...आज जिसे स्त्री वर्ग की प्रकृति बताया जाता है वह केवल आरोपित सत्य है जो शक्ति द्वारा दमन नीति के आधार पर एक दिशा में मोड़ दिया गया है और उसके साथ दूसरे प्रकार की प्रेरक शक्तियों का प्रयोग किया गया है। स्त्रियों के मामले में घर की बन्द दीवारों और चूल्हा-चक्की के संस्कारों से उनके प्रकृति की स्वाभाविक शक्ति को गृहस्वामी के आराम और सुविधा के लिए नष्ट कर दी है।"

उपर्युक्त प्रकार की और इससे भिन्न दलीलों द्वारा मिल ने पूर्णरूप से स्त्री जाति के मुक्ति आन्दोलन की आवश्यकता को उग्र रूप से संचालित कर दिया था। उसने बड़े सशक्त ढंग से इस बात को स्थापित किया था कि इस सुधार से बहुत प्रकार के स्वस्थ और लाभदायक परिणाम निकलेंगे। यही नहीं कि स्वतन्त्र होकर स्त्रियाँ ही लाभ उठायेंगी और आनन्द प्राप्त करेंगी (क्योंकि आनन्द की वास्तविक अनुभूति स्वतंत्रता के माध्यम से ही प्राप्त होती है), यह भी नहीं कि इस स्वतन्त्र वातावरण में स्त्रियों की प्रकृति शीघ्र बदल जायेगी और एक नये वातावरण का जन्म होगा वरन् इन सबके साथ पूरे समुदाय का जीवन विशेष रूप से लाभान्वित होगा। ऐसे पूर्ण वातावरण में, जिसमें कि नौकरियाँ और पद समान रूप से बिना किसी रोक-टोक के सबके लिए सुगम हो जायेंगे तो मानवता के कल्याणकारी कार्यों के लिए इतनी प्रतिभाओं की शक्ति का प्रयोग किया जा सकेगा और नौकरियों के स्तर और उनकी क्षमताएँ भी बहुत विकसित हो सकेंगी और इन सबसे व्यापक मानव भावनाओं को अधिक मानवीय, संवेदनशील प्रेरणाएँ स्त्रियों द्वारा मिलेगी जिसका कि बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ेगा। इससे भी अधिक लाभ यह होगा कि स्त्रियों की व्यावहारिक बुद्धि एवम् मानसिक शक्ति, उनकी सतर्क प्रकृति और विशेष संवेदनशील प्रवृत्ति से समाज की क्षमताएँ बढ़ जायेंगी।

मिल द्वारा प्रस्तुत किये गये इन संगत तर्कों के प्रति कोई विरोध नहीं प्रस्तुत किया जा सकता और निश्चय ही इसका बड़ा अच्छा प्रभाव भी पड़ा था। वास्तव में यह कहना अतिशय उक्ति नहीं होगा कि आज वर्तमान युग में जो सुविधाएँ स्त्रियों को शिक्षा और समान अवसर के युग में मिली हैं और जिसके बल पर स्त्रियों में व्यावहारिक प्रतिभा को प्रदर्शित करने का अवसर मिला है—यह सब केवल एक व्यक्ति मिल के अकथ प्रचार एवन् नेतृत्व का परिणाम है।

किंतु यद्यपि मिल का यह तर्क काफी हद तक सही और संगत है किंतु यह पूर्णरूप से ऐसा नहीं है। मूलतः तर्क एक खास प्रकार के ऐसे वकील का है जो कुछ बातों पर तो विशेष बल देता है किंतु अन्य कारकों को ऊपरी तौर से प्रस्तुत करके समाप्त हो जाता है क्योंकि वैवाहिक जीवन के धुंधले चित्र को उसने अतिशय उक्ति के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है और घर की पक्षधरीय धारणाओं को अपर्याप्त रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। स्त्रियों के सम्बन्ध में दमन (Subjection) शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में मिल ने स्त्रियों के संदर्भ में प्रस्तुत किया है वह यद्यपि काफी सीमा तक उचित है और कुछ स्थितियों में सही भी है और विवाह के पक्ष सम्बन्धी कानूनी पक्ष को काफी दृढ़ता के साथ प्रस्तुत किया है, फिर भी इसके तर्क पक्ष से सम्बोधित विचारों को बड़ी सख्ती के साथ बलपूर्वक सिद्ध किया गया है। और वह विवाह सम्बन्धी उस पवित्र गठबंधन का विच्छेद करता है जो आदर्शवाद के रूप में दाम्पत्य जीवन के पारस्परिक विश्वास और अबाध प्रेम द्वारा सञ्चालित होता है और जिसके सूत्र में दोनों ही बँधे रहते हैं। पति और पत्नी के बीच 'आज्ञा' और 'आज्ञापालन' का अधिकार मात्र शक्ति प्रयोग और दमन का परिचायक नहीं है वरन् वह दो हृदयों के मिलन और उनके संयोग का परिणाम होता है जो सर्वथा भिन्न स्तर के कारकों द्वारा संचालित और अनुशासित होता रहता है। मिल के तर्क में गृहस्थी में माँ के और उसके कर्त्तव्यों के प्रति भी सहानुभूत्यात्मक दृष्टि का अभाव है और उसके गृह और परिवार निर्माण

सम्बंधी दायित्वपूर्ण पवित्र कर्तव्य को भी महत्व नहीं दिया गया है यद्यपि राज्य के संसार में दूसरी हितकारणी संस्था 'माँ' द्वारा अनुशासित घर के सिवा कोई दूसरी नहीं है।

इसके अतिरिक्त उसने ठीक-ठीक शारीरिक विकास, उसकी भावनाओं और सीमाओं को भी उचित रूप से नहीं अनुभव किया है और लिंगीय भेद के आधार जो निश्चय ही किसी वैधानिक पद्धति द्वारा समान नहीं बनाये जा सकते (वह लिंग भेद को केवल एक घटना मात्र मानता है) उसको भी उचित रूप में नहीं समझा है। यही नहीं उसने इस पक्ष पर भी विचार नहीं किया है कि स्त्री और पुरुष के जो नये सम्बंध इस क्रांतिकारी सिद्धांत के अनुसार विकसित होंगे उनके अनेक दुष्परिणाम होंगे। वह वीरता और साहसिकता भी किस काम की होगी यदि स्त्री पुरुष विरोध में अपने को पुरुषत्व सम्पन्न भूचाल में परीशान दिखाई देगी ? यदि थोड़ी देर के लिए वह अपनी यह साहसिकता नष्ट भी कर देगी तो भी स्त्री और पुरुष के सम्बंधों में बड़ा उथलपुथल हो जायगा और स्त्री को अधिक संकटों का सामना करना पड़ेगा ? उस समय क्या होगा ? कैसा लगेगा ? जब स्त्रियों की निजी स्वाभाविकता और उनका विशेष गुण ही नष्ट हो जायगा और वे मात्र एक अपवाद के रूप में ही शेष बच रहेंगे ? इस भाव को १८९२ में ग्लैडस्टन ने स्त्रियों के मतदान का विरोध करते हुये कहा था—"जब तक स्त्रियाँ पुरुषों के अधिकार नहीं छीनतीं तब तक हमें उसके विकास के प्रति कोई भी सन्देह नहीं है। मुझे जिस बात से विशेष भय लगता है वह यह है कि हम नारी को अपने स्वभावगत संस्कारों, नम्रताओं, पवित्रताओं, सुन्दर अभिरुचियों की सहजता के विरुद्ध कुछ इस प्रकार के कार्य के लिये उत्तेजित करते हैं जो अधिकार की ही सबसे अधिक क्षति होती है और उस क्षति से शक्ति के विभिन्न स्रोत भी खण्डित हो जायँगे।

अंत में, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मिल के विचार एकांगी हैं और उसने 'असमानता' और अन्याय के प्रसंग में कई भ्रांतियाँ उत्पन्न

कर दी हैं और सिद्ध कर दिया है कि यदि जिस प्रकार का दमन हो रहा है वह सैद्धांतिक स्तर पर मूलतः तो है ही फिर भी यदि समाज की कोई भी व्यवस्था शेष नहीं रह जायगी तो उससे भी बड़ी हानि होती है। अस्तु समाज को कायम रहना है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दमन भी जीवन के लिए आवश्यक है और केवल वही दमन प्रवृत्ति घृणित और त्याज्य है जो किसी न किसी महानता के प्रति इस प्रकार का व्यवहार करती है।

अध्याय १०

जान स्टुअर्ट मिल

[स्वाधीनता; व्यक्तिवाद का समर्थन; प्रतिनिधिशासन व्यवस्था]

१. स्वाधीनता : व्यक्तिवाद का समर्थन—सामाजिक और राजनैतिक विकास मुख्यतः व्यक्त्यि की मौलिकता और शक्ति के आधार पर ही सम्भव होते हैं। इस धारणा से सिद्धांततः मिल विशेष रूप से प्रभावित था। वह प्रजातंत्र के उस प्रवृत्ति से और भी चिंतित था जो केवल जनतंत्र (Republican) के नाम पर सामान्य रूप से व्यक्ति के अस्तित्व को महत्वहीन मानती थी। इसीलिए मिल इन प्रवृत्तियों के विरोध में व्यक्तिवाद का बड़ा सशक्त समर्थक और प्रवर्त्तक हो गया था। वह व्यक्ति की सम्पूर्ण सम्भावनाओं को विकसित करके उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकसित रूपों द्वारा उन्हें यह स्वतंत्रता देना आवश्यक समझता था ताकि वे अपनी क्षमताओं के अनुकूल अपना विकास कर सकें और सक्रिय रूप से जीवन की क्रियाशीलता में भाग ले सकें। उसके मतानुसार बिना इन सुविधाओं के सामान्य प्रगति असम्भव थी। वह यह भी मानता था कि एक विशिष्ट प्रकार की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति जो निरबाध और अनियंत्रित रूप में केवल आत्म-उच्छृङ्खलता की रक्षा के लिए सामाजिक कर्त्तव्यों और दायित्वों के प्रति विद्रोह करती है, उसका तो दमन निश्चय ही होना चाहिये। किंतु प्रजातन्त्र का वह पक्ष जो मात्र समूहवाद के बल पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार करता रहता है उसको भी समाप्त होना चाहिये। जन कल्याण के हित में व्यक्ति को वे सभी प्रोत्साहन और अवसर सुलभ और सुगम होने चाहिये जिससे आदमी अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करके अपनी

प्रतिभा के अनुसार अपने अस्तित्व का योग दे सके और समाज उसकी सेवाओं से अधिकाधिक लाभ उठाकर समुन्नत मार्ग पर चल कर विविध चारित्रिक शक्तियों का सामूहिक समर्थन प्राप्त कर सके। मिल इस बात से भी पूर्णतया अवगत था कि प्रजातंत्र के अन्तर्गत सामाजिक लोक मत और राज्य विधान बहुत से दायित्वपूर्ण कर्तव्यों को निबाहने से किस प्रकार पलायन करते हैं। वे व्यक्ति से उसका वैयक्तिक सहयोग ही नहीं चाहते थे वरन् उसके समूचे व्यक्तित्व को तोड़कर एक ऐसा निरीह और सामान्य व्यक्ति बना देना चाहते थे जो तथाकथित सामाजिकता में खप सके। इस प्रकार प्रजातन्त्र व्यक्ति के ऊपर प्रभुत्व स्थापित कर के समाज के बहुत से शुभ हितों को नष्ट करने का प्रयास करता है। यही कारण था कि वह अपने समय में राज्य द्वारा शिक्षा-सञ्चालन का विरोध करके यह स्थापित करता था कि शासन व्यवस्था को शिक्षा के सम्बन्ध में अधिक से अधिक ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये ताकि राज्य की समस्त जनता अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा देने की सुविधा पा सके। यदि कुछ ऐसे लोग हों जो आर्थिक अभाव के कारण शिक्षा देने में असमर्थ हों तो उन्हें भी आर्थिक सहायता देकर अपने बच्चों की शिक्षा देने की सुविधा मिल सके। वह यह मानता था कि यदि राज्य द्वारा शिक्षा का कार्य संचालन होगा तो उससे व्यक्ति की मौलिकता नष्ट होगी : "और राज्य स्तर पर शिक्षा सूत्र के सञ्चालन का परिणाम यह होगा कि वह सब व्यक्तियों को एक समान साँचे में ढाल कर सब को एक दूसरे के समान बनाने की चेष्टा करेगा।"

व्यापक रूप से परिस्थितियों को देखते हुये वह अपने समय को सामान्य रूप से बहुत ही दमन की स्थिति में पाता था। इसीलिए वह व्यक्ति स्वातन्त्र्य की बात पर काफी बल देता था और विचार की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought), बोलने की स्वतन्त्रता (Freedom of Speech) और व्यवहार की स्वतन्त्रता (Freedom of Action) के विकास में बड़ा ही प्रयत्नशील रूप से कार्य कर रहा था। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति समाज का सदस्य जन्म से ही होता है

और इसलिए व्यक्ति का सामाजिक दायित्व और समाज का व्यक्ति पर अधिकार, दोनों ही बहुत महत्वपूर्ण और नाजुक समस्यायें हैं। यह सत्य है कि व्यक्ति जीवन और शक्ति का वह केन्द्र विन्दु है जो अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का विशेष प्रतिनिधि है। व्यक्ति के इस दायित्व और वास्तविकता को स्वीकार करके उसकी सुरक्षा करना परम आवश्यक है। साथ ही यह भी मानना चाहिये कि जो नियम और जो बात एक व्यक्ति के लिए सत्य और शुभ है वही व्यक्ति के उस समूह के लिए भी उसी प्रकार लागू होता है। किंतु ये नियम किसी सामूहिक लक्ष्य के लिये, एक दूसरे के प्रति सहयोगशील होते केवल उस सीमा तक सम्मिलित प्रयास में योग दे सकते हैं, जहाँ तक अपने समूह के अतिरिक्त वे किसी अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करते।

विचार स्वातन्त्र्य (Freedom of Thought) सम्बन्धी मिल के विचार (जो उसके सहयोगियों में से जार्ज गोट और अन्य उपयोगितावादियों द्वारा बहुप्रशंसित विषय है) बहुत ही व्यापक सन्दर्भ के हैं और प्रभावित भी करते हैं। 'आन लिबर्टी' (On Liberty) नामक अपनी इस छोटी सी पुस्तक में उसने बड़े ही सशक्त ढंग से अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। सामान्य रूप से स्वीकृत मतवाद के विरोध में किसी भी व्यक्ति के विरोधी मत क्यों महत्वपूर्ण हैं और उनके प्रति क्यों सहनशील दृष्टि आवश्यक है इसका महत्वपूर्ण तर्क मिल ने बड़ी सतर्कता के साथ प्रस्तुत किये हैं।

उन तर्कों में से एक तो यह कि किसी भी विचार को यों ही ऊपरी ढंग से देख कर कानून के जोर से या जनमत के दबाव से दबा देने में सत्य के भी दबने की सम्भावना है क्योंकि सम्भव है साधारणतया सर्वमान्य मत नितांत सत्य न होकर गलत हो। न तो सर्वमान्य होने से और बहुत दिनों से प्रचलित और स्वीकृत होने से कोई बात या कोई विचारधारा विवेकपूर्ण होती है। प्रथाओं और परम्पराओं ने प्रायः गलतियों और त्रुटियों को अनावश्यक रूप से प्रश्रय दिया है।

यदि उनके अन्यायों को तोड़ना है तो उसके विरोधी व्यक्तियों के मत पर विचार करना और उनसे प्रभावित होना परम आवश्यक है। यह सिद्धांत विचार और भावना के प्रत्येक क्षेत्र पर समान रूप से लागू होता है और धर्म सम्बन्धी भावनाओं, नैतिक मान्यताओं एवम् राजनैतिक विचारों और सामाजिक प्रथाओं पर भी आरोपित होता रहता है। व्यक्ति के अधिकार न तो मिटाये जा सकते हैं और न उनको खण्डित किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त सत्य की सप्राणता संघर्ष और विरोध में अधिक विकसित होती है। इन विरोधी विचारों से सत्य यदि सर्वमान्य स्वीकृत विचारों की तरह हो और वह मात्र 'आत्म-रक्षा' (Self-protection) के स्तर पर (मिल के ही शब्दों में) घटित होता हो, फिर भी यह सम्भव हो सकता है कि वे जो व्यक्ति के आचरण से प्रभावित होते हैं, स्वयम् यह सोचकर कि यह समाज के हित में नहीं है, रोकने की चेष्टा करें। अस्तु, ऐसी स्थिति में जब कोई व्यक्ति अपनी आत्म-रक्षा के लिए कोई कार्य करता है तो उसका आचरण स्वतः स्पष्ट और ज्ञेय होता है। फिर भी उसे अपने को दूसरे लोगों के ऊपर आपत्ति रूप में आरोपित नहीं करना चाहिये यदि वह दूसरे लोगों की स्वतन्त्रता में कोई हस्तक्षेप नहीं करता और केवल अपनी धारणा एवम् आत्मनिर्णय के अनुसार कोई भी ऐसा कार्य करता है जिसका प्रभाव दूसरों पर कुछ नहीं पड़ता और वह केवल उसकी व्यक्तिगत सीमाओं तक ही सीमित रहता है, तो उसे ऐसा आचरण करने के लिए ठीक वही स्वतन्त्रता दी जानी चाहिये जो विचार सम्बन्धी स्वतन्त्रता के विषय में लागू होते हैं और जिसके अनुसार यह मान लिया गया है कि कोई भी व्यक्ति अपने वैयक्तिक स्तर पर बिना दूसरे के विचारों में हस्तक्षेप किये सुरक्षित रख सकता है। यही सिद्धांत ऐसे व्यक्ति-समूह के ऊपर लागू किया जा सकता है जो स्वगत रूप में उन समस्त परिस्थितियों में आचरण करते रहते हैं, जिनका सम्बन्ध मात्र उन्हीं तक सीमित रहता है। इस प्रकार इस विवाद का मुख्य केंद्र यह निर्णय करने में है कि वे कौन से आचरण हैं जिन्हें मनुष्य स्वतः भाग

लेकर परिणाम को अपने व्यक्तित्व तक ही सीमित रख सकता है। जहाँ तक मनुष्य के विचार का सम्बन्ध है, मिल ने यह स्थापित किया था कि यदि मनुष्य विश्व के विरोध में अकेले खड़ा होता है (ठीक एथेनासेस, Athenases के समान) तो समूची मानवता को उसे रोकने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसा इसलिए होना चाहिये क्योंकि दूसरे के विचारों का जबर्दस्ती गला दबा कर चुप कराने की प्रवृत्ति मानव जाति की सुलभ शक्ति को नष्ट करने जैसी है। इससे भावी सन्तान तो विकृति होती ही है, साथ ही वर्तमान सन्तान भी नष्ट होती है। इससे दोनों को हानि पहुँचती है—उनको जो विरोधी विचार रखते हैं और उनको जो उस विचार से सहमत हैं। यदि विचार ठीक हैं तो असत्य को मिटाकर सत्य को स्थापित करने के अवसर से मनुष्य वंचित होता है। यदि वे विचार गलत हैं तो भी गलत बात को गलत सिद्ध होने से वंचित करने में सत्य का परिप्रेक्ष्य और उसके जीवन्त तथ्यों को अधिक स्पष्ट रूप नहीं मिल पाता जिसके कारण वे उससे वंचित रह जाते हैं। ठीक इसी प्रकार की स्थिति मनुष्य के आचरण के सम्बन्ध में भी उठती है। अस्तु, अब प्रश्न यह है कि क्या उसकी इमानदार विचार-शक्ति और आत्म-शक्ति को भी इससे हानि नहीं पहुँचता। क्या ऐसे व्यक्तियों का आचरण करने से केवल इसीलिए वंचित कर दिया जायगा क्योंकि उनके विचार कुछ ऐसे लोगों को अरुचिकर हैं जो समकालीन होने के नाते अथवा प्रचलित सामाजिक प्रथाओं के नाते उसको नहीं स्वीकार कर पाते ? मात्र स्तर पर अरुचिकर होना अथवा जनसाधारण में उसका प्रचलन न होना किसी को आचरण की स्वतंत्रता से वंचित नहीं कर सकता ? अस्तु, यदि किसी का कोई ऐसा आचरण नैतिक स्तर पर संगत नहीं लगता तो क्या उसका नकारात्मक मूल्य भी नहीं हैं ? क्या स्थापित नैतिक मूल्यों के विरुद्ध आचरण के संघर्ष से स्वतः नैतिकता को कोई लाभ नहीं पहुँचेगा। इसके उत्तर में मिल ने समान सापेक्ष दृष्टि की आवश्यकता और जीवन वृत्ति प्रयोगात्मक आचरण की उपादेयता के बारे में यह स्थापित किया है कि प्रस्तुत आचरण के आधार पर परम्परा निर्जीव और निष्प्राण रूढ़ि में

परिवर्तित होने से बच जाती है। नकारात्मक तत्वों से बराबर संघर्ष करते रहने से सकारात्मक (Affirmative) तत्वों को शक्ति मिलती है और वे अधिक स्पष्ट होते रहते हैं। साथ ही व्यक्ति के विचारों को भी अधिक सुस्पष्टता मिलती रहती है। जब परिस्थितियोंवश भी किसी दृष्टिकोण की रक्षा करने की समस्या प्रस्तुत होती है तो आदमी को मजबूर होकर अधिक स्पष्टपूर्ण और तारतम्य चिंतन प्रस्तुत करना पड़ता है और सशक्त आरोपों और दुर्बल प्रतिरोपों को अपनी स्थिति के अनुसार देखना पड़ता है। हो सकता है इस प्रक्रिया में विरोधी और विवेकपूर्ण अस्वीकृतियों के कारण कुछ क्षेत्र की स्थिति उत्पन्न हो जाय, किंतु बौद्धिक स्तर पर यह शक्तिवर्धक और सहायक ही सिद्ध होते हैं; क्योंकि इस प्रक्रिया से पक्षवाले की दृष्टि साफ होती है, विचार स्पष्ट होते हैं और विश्वासों को बल मिलता है। यही नहीं इससे अपने मत और अपनी धारणाओं को सशक्त रूप से प्रस्तुत करने में और उन्हें प्रचारित करने में आत्मविश्वास के साथ-साथ आत्म-तुष्टि भी मिलती है।

एक बात और है, वह यह कि विवादपूर्ण स्थिति में किसी भी पक्ष का विशेष सत्य का नितांत अधिकार नहीं होता वरन् वह दोनों पक्षों में समान रूप से विद्यमान होता है। यह बात स्वयम् विरोधी मत के तत्व विशेष से भी उत्पन्न होती है। सत्य अनन्त होता है और उसके कई पक्ष भी होते हैं; किंतु यह विविधता निश्चित रूप से विरोध की परिचायक नहीं होती (जैसा कि प्रायः विरोधी विचार वाले बहुधा मानते हैं)। इसके विपरीत वे एक दूसरे के पूरक होते हैं—यद्यपि यह भी सत्य है कि बहुधा जब किसी पक्ष को सार्थक और सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया जाता है तो वह उस समय बहुत ही घातक और उथल-पुथल करने वाला प्रतीत है। इसीलिए उचित दृष्टि विकसित करने के लिये यह आवश्यक है कि दोनो पक्षों के पूरक तत्वों को एक साथ रखकर देखा जाय, और प्रत्येक पक्ष के साथ समान व्यवहार प्रस्तुत किया जाय।

मतवैभिन्य में सामान्य सहनशीलता के लिए ये ही प्रधान आधार-भूत तत्व हैं। स्वतन्त्र रूप से बिना किसी संकोच के विचारशील होने में ये सिद्धांत सहायक होते हैं। यद्यपि मिल के इन विचारों से उसकी दृष्टि और आत्मसंवेदना का विशेष परिचय मिलता है फिर भी इससे यह भी पता चलता है कि वह उदार और सहनशील व्यक्ति होने के साथ-साथ व्यापक सहानुभूति का पोषक था। अपने विरोधी विचार वाले चिन्तकों में से अधिकांश के विचारों का वह बड़ा आदर करता था और सब के विचारों के सत्य-सार को जानने और ग्रहण करने का प्रयास करता था। अपने जीवन काल में उसने एक वार अपनी इस सहनशीलता को अतिवादी सीमा तक पहुँचा दिया था और अनावश्यक रूप में उसने अपने ही मतवाद को आवश्यकता से अधिक तोड़-मरोड़ डाला था। स्वयम् उसने और उसके बहुत से मित्रों ने इस बात को बाद में, समान रूप में स्वीकार किया था।

इस प्रकार जब हम व्यक्तिगत विचार स्वातन्त्र के साथ (Freedom of Thought) आचरण की स्वतन्त्रता (Freedom of Action) को सम्बद्ध करके देखते हैं तो हमें स्पष्ट रूप से एक विशेष स्थिति का बोध होता है। आचरण करने में हम प्रायः अपने तक सीमित नहीं रहते वरन् उसमें दूसरों को भी प्रभावित करते हैं। यह प्रभाव परोक्ष रूप में पड़ता है, विभिन्न जीवन पद्धतियों को आचरित करने के पूर्व उनकी व्याव-हारिकता पर पूर्ण रूप से विचार करना परम आवश्यक है ताकि उसके कारण हम से कम व्यक्तियों की भावनाओं को ठेस लगे। व्यक्तिवादी पद्धति का मूलतः अर्थ ही यह है कि व्यक्ति की स्वयम् की प्रकृति और उसकी विकास सम्भावना पर विशेष बल देना चाहिये न कि परंपरा प्रथा और लोकाचार पर। यदि इसको आधार मान कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता स्वीकार नहीं की जाती और व्यक्ति के अपने वैयक्तिक चरित्र, अपने दायित्व को विकसित करने का अधिकार स्वीकार नहीं किया जाता, तो ऐसी स्थिति में मनुष्य आनन्द सम्बन्धी उस महत्वपूर्ण तत्व से

वञ्चित हो जाता है जो कि व्यक्ति-विकास और समाज-विकास का मुख्य अंग है। ये सब बातें इस मूल सिद्धांत पर केन्द्रित हैं कि मनुष्य स्वयम् प्रकृति द्वारा ऐसे बनाये ही गये हैं ताकि वे एक दूसरे से भिन्न हों। यह बिल्कुल सम्भव है कि जो एक मनुष्य को रुचिकर हो उसमें दूसरे को कोई भी रुचि न हो। अस्तु, यदि मनुष्य को अपने ढंग से विकसित होने का अवसर नहीं प्रदान किया जाता तो सम्भव है कि वह बिल्कुल ही न विकसित हो सके और इस प्रकार संसार की एक सम्भावना ही नष्ट हो जाय।

ऐसी अवस्था में जहाँ कहीं भी एक का आचरण दूसरे मनुष्य के स्वार्थ से हस्तक्षेप करता है, वहाँ समाज को पूरा अधिकार है कि वह उसके ऐसे कार्य को दबा दे। साथ ही समाज को यह भी चाहिए कि वह इस बात पर विशेष बल दे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करता रहे और अपने सामाजिक दायित्वों को सतर्कता के साथ निभाता रहे। प्रत्येक व्यक्ति की दो स्थितियाँ होती हैं—वह व्यक्ति भी होता है और सामाजिक व्यक्ति भी होता है और हर स्थिति में उसके अपने प्रकार के अधिकार होते हैं, जिनका सम्मान करना ही चाहिये। जिस बात पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये वह यह है कि समाज को व्यक्ति के सम्पूर्ण स्वत्व पर अपना अधिकार नहीं प्रदर्शित करना चाहिये।

मिल की व्यक्तिस्वातन्त्र्य विचार पद्धति, और उससे सम्बन्धित आचरण तीन भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—प्रथम तो यह कि वह मनुष्य की इच्छाशक्ति और उसकी भावनात्मक प्रवृत्ति का समर्थन करता है और उसके उचित स्वत्व को स्वीकार करके उसे बुद्धि से पृथक वस्तु मानता है। ऐसा करके वह व्यापक स्तर पर बुद्धि को मुख्य स्थान देता है और थोड़ा नीचे और संकुचित स्तर पर वह यह स्वीकार करता है कि बुद्धि का उचित उद्देश्य व्यक्ति के सक्रिय और सशक्त व्यक्तित्व को स्वाभाविक रूप में बढ़ने का अवसर प्रदान करता है। दूसरे यह कि आनन्द और मानव कल्याण के लिए वह इस बात

पर आग्रह करता है कि यह दोनों तत्व मानव व्यक्ति और उसकी स्वगत सत्ता के साथ ही सम्भव हो सकते हैं। तीसरे यह कि समाज की ऐसी विभिन्न रूढ़ियाँ और उसके लोकाचार जो समाज की प्रगति में एवम् व्यक्ति की स्वाभाविक गतिविधि की अभिव्यक्ति में बाधक होते हैं—उनका विरोध करके उनकी निरंकुशता को नष्ट करना उचित है। उसका व्यक्तिगत आचरण स्वतः इस विद्रोह को प्रमाणित करता है। अपने इस आचरण के कारण ही बहुधा जनता ने उसकी निंदा और आलोचना भी किया है। विशेषतया मिसेस टेलर (Mrs. Taylor) के प्रसंग में उसने जानबूझ कर दृढ़ता के साथ सामाजिक लोकमत का खण्डन किया था। अपने बहुत से साथियों के सहयोग का परित्याग करना भी उसने स्वीकार किया था। इन सब का परिणाम यह हुआ था कि १८६८ में आम चुनाव में उसे अपने क्षेत्र में ही पराजित होना पड़ा। इस हार के जहाँ और भी कारण थे वहाँ एक कारण यह भी था कि उसने ब्रेडला (Bradlaugh) को खुले रूप में सहयोग प्रदान किया था और ब्रेडला के विचार इतने स्वतन्त्र थे कि जनमत उसके बिल्कुल विरुद्ध था। किन्तु इसके विपरीत ऐसे भी अवसर आये हैं जब उसको अपने स्वतन्त्र विचारों के कारण विशेष प्रोत्साहन भी मिला है। १८६८ के आम चुनाव में उसने अपने विचारों को बिना जनमत की परवाह किये ही प्रचारित किया था और यह जानते हुए कि जनता उसे पसन्द नहीं करेगी उसने जानबूझ कर विद्रोही विचारों को निर्भीकता के साथ व्यक्त किया था और फिर भी वह विरोधी हुआ था। उस चुनाव में उसने जनमत को रुष्ट तो किया ही था साथ ही उसने व्याप्त प्रथा के अनुसार चुनाव में भाग लेने और प्रचार करने से भी इन्कार कर दिया था। किंतु इन सबके बावजूद भी वह मात्र अपनी स्पष्टवादिता के आधार पर बहुमत से चुन लिया गया था।

वह अपने लिये जिस स्वतन्त्रता को आवश्यक समझता था ठीक उसी प्रकार वह पार्लियामेंट के चुनाव में अपने विरोधी को भी पूर्ण

स्वतन्त्रता देना चाहता था। जन प्रतिनिधि की उसकी अपनी निजी कल्पना यह थी कि प्रत्येक प्रतिनिधि को जनता की प्रतिध्वनि मात्र नहीं होना चाहिये। उसे स्वतः एक व्यक्तिगत बौद्धिक शक्ति का परिचायक होना चाहिये ताकि वह जनता का पथ निर्देशन और शिक्षण करने में समर्थ हो सके। उसके मतानुसार छोटी-छोटी बातों में भी (जिनमें कि कोई बुनियादी प्रश्न या नैतिक सिद्धांतों से सम्बन्धित बात न भी हो) अपने मत को व्यापक रूप में प्रकट करना चाहिये ताकि बड़े प्रश्नों पर समान रूप से विजय प्राप्त हो सके और जनता उसके स्तर को विश्वास के साथ ग्रहण कर सके। उसका मत था कि "प्रतिनिधि शासन सत्ता में झूठ और बेईमानी के स्तर की डींग हाँकना या बात करना सब से अधिक घृणित कार्य है।" [पत्र II, ६७]

मिल ने जिस प्रकार व्यक्ति आचरण के प्रश्न का पक्ष प्रस्तुत किया है उसमें काफी महत्वपूर्ण बातें हैं। उसने बड़े कलापूर्ण ढंग से अपने विचार पक्ष को प्रस्तुत किया है। किन्तु यह सब होते हुए उसमें काफी बातें ऐसी हैं जो आलोचना के योग्य हैं। इनमें से दो बातों का उल्लेख यहाँ करना असंगत नहीं होगा—पहली बात तो यह कि उसने व्यक्ति की बात करते हुये व्यक्ति शक्ति को 'प्रतिभा सम्पन्न' और 'मौलिक' (Genius or Originality) रूप में ही स्वीकार किया है। ऐसा करने में वह यह भूल गया है कि कभी-कभी शक्ति सनक (Eccentricity) का भी रूप धारण कर लेती है। सनक की स्थिति में सिवा दुर्बलता के चारित्रिक शक्ति कुछ भी नहीं होती। इसीलिए उसका यह मत था कि इस प्रकार की शक्ति को किसी न किसी रूप में नियन्त्रित करना प्रोत्साहित करने की अपेक्षा अधिक आवश्यक है। सर लेसली स्टीफेन (Sir Leslie Stephen) ने इस तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए कहा है, "सनकी आदमी इस प्रकार का बेडौल कटे हुये शहतीर के समान है जिस का राज्य में कोई उपयोग नहीं हो सकता।" इस प्रकार प्रोफेसर मैक्कन (Professor MacCunn) का मत है, "सनकपन व्यक्तिवाद का प्रहसन है।" दूसरी बात जिसको मिल ने अच्छी तरह नहीं स्वीकार किया

है वह यह है कि—"यद्यपि मनुष्य की इच्छायें और संवेदनायें उसकी प्रकृति के विकास के लिए नितांत आवश्यक हैं, फिर भी उनसे यह नहीं सिद्ध होता कि वे उचित रूप में मनुष्य के आचरण को विभाजित कर सकती हैं।' इस में सन्देह नहीं कि प्रयोग करने की निशंक स्वाधीनता मानव-चरित्र की विविधता प्रस्तुत करने में सहायक हो सकती है, किन्तु चरित्र का माप दण्ड गुण से आँका जाता है न कि विविधता (Variety) से। एक प्रतिभावान् को भी दूसरे के अनुभव से कभी-कभी बहुत कुछ ग्रहण करना पड़ता है। इसलिए अनुभव से लाभान्वित होकर मनुष्य अपने आनन्द की वृद्धि कर सकता है। जो भी हो, हर दशा में इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि व्यक्ति की प्रवृति कहीं समाज-विरोध और प्रतिबंध के अन्तर्गत मात्र प्रतिक्रियात्मक रूप में तो नहीं विकसित हुई है।

२. प्रतिनिधि शासन सत्ता—यद्यपि मिल एक विख्यात विद्रोही था फिर भी वह प्रजातंत्र की कमजोरियों को भली-भाँति जानता था और उसके खतरों के प्रति जागरूक था। इसीलिए वह सदैव इस बात में प्रयत्नशील रहा कि उन स्थितियों और खतरों का निराकरण करके उनके दोषों को दूर करे। वह जिस चीज से सबसे ज्यादा अतंकित था वह संसद में अल्पसंख्यकों की पर्याप्त प्रतिनिधित्व की बात थी। वह बहुसंख्यक दल द्वारा अल्पसंख्यकों को दमन करने की प्रवृत्ति को उत्सुकता-पूर्वक देखता था। वह वर्गीय एवम् दलगत आधार पर जो अन्याय होते रहते थे और एकांगी विधायक पारित होते रहते थे, उनसे भी असन्तुष्ट था। वह यह ईमानदारी से अनुभव करता था कि अल्पसख्यकों का उतना ही महत्वपूर्ण अधिकार है जितना कि बहुमत वालों का और यदि अल्पसख्यकों की आवाज को उचित ढंग से देश की सरकार द्वारा नहीं सुना और स्वीकार किया जायगा तो प्रजातंत्र स्वस्थ और सन्तोष-जनक स्थिति में विकसित नहीं हो पायेगा।

इस प्रवृत्ति के खतरों की सम्भावनाएँ आज भी जब हम संसदीय प्रतिनिधित्व की बात सोचते हैं तो स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती हैं।

यदि कोई भी किसी भी चुनाव के समय पड़े वोटों की गणना करे और यह देखे कि विजयी दल को और पराजित दल को कितने वोट मिले हैं, तो स्पष्ट पता चलेगा कि विजयी दल के पास संसद सीट अल्पसंख्यक से कहीं अधिक है। यह विरोध बहुत ही महत्वपूर्ण उस समय हो जाता है जब कि इस समस्या को देश के एक भाग को लेकर देखा जायगा। जैसे वेल्स या स्काटलैण्ड ही को लें। १९०६ के व्यापक चुनाव में वेल्स की मिनिस्ट्रीयलिस्ट(Ministerialist) पार्टी को २१७४६२ वोट मिले थे, और यूनियनिस्ट (Unionist) पार्टी को १००५४७ वोट मिले थे जिसका कि अनुपात २ : १ का होता है। किन्तु वेल्स मिनिस्ट्रीयलिस्ट (Welsh Ministerialist) दल के ३० सदस्य संसद के सदस्य थे जब कि यूनियनिस्ट (Unionist) दल का एक सदस्य भी संसद में नहीं चुना गया था। इस प्रकार के चुनाव वालों का प्रभाव यह पड़ता है कि अल्पसंख्यकों का कोई भी प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। यह स्थिति बड़ी ही दुःखजनक है। इसी प्रकार स्काटलैण्ड में १९१० के चुनाव में ६१ मिनिस्ट्रीयलिस्ट (Ministerialists) संसद के सदस्य चुने गये थे। मिनिस्ट्रीयलिस्टों को कुल मिला कर ३७३२१३ वोट ही मिल पाये थे जब कि (Unicnist) को कुल २७७१८३ वोट मिले थे किन्तु वे केवल ११ सीट जीत चुके थे। वर्तमान समय की असंतुलित और अन्याययुक्त चुनाव-व्यवस्था में इस प्रकार की अनेक असंगतियाँ भरी पड़ी हैं। इसके दुष्परिणाम और भी अधिक कटु रूप में उस समय देखने में आते हैं जब कि क्षेत्रों में दुबारा चुनाव होने के बाद यह अनुभव होता है कि ये चुनाव सीधा न होकर त्रिकोणात्मक रूप में प्रस्तुत होता आ रहा है।

इस प्रकार की स्थिति का सामना करने के लिए और विश्वस्त रूप से बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक दोनों का प्रतिनिधित्व न्यायपूर्ण ढंग से प्रस्तुत कर सकने के लिए मिल ने अनुपातात्मक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) का समर्थन किया था और यह घोषित किया था कि यह चुनाव का तरीका प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था के

लिए नितान्त आवश्यक है। पद्धति को वोट हस्तांन्तरण (Transferable Vote) पद्धति कहते हैं। इसका प्रस्ताव सर्वप्रथम पार्लियामैन्ट में टामस हेयर नामक सदस्य ने किया था और दल निरपेक्ष संस्था दि प्रोपोर्शनल रिप्रेजेन्टेशनल सोसाइटी (The Proportional Representational Society) की ओर से बड़े वेग के साथ अनुपातात्मक चुनाव चलने लगा था।

बहुसंख्यक में स्वभावगत रूप में अल्पसख्यकों को दमन करने की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक था। इसके नाते बड़ी खतरनाक प्रवृत्तियाँ विकास पा रही थीं और जिन्हों ने मिल के विचारों को विशेष रूप से प्रभावित किया था, वह इस बात की आवश्यकता का अनुभव करता था कि संसद के सदस्य और अधिक बुद्धिमान, शिक्षित सुसंस्कृत तथा जागरूक व्यक्ति होने चाहिये और उन्हें राजनीति का विषद विद्वान भी होना चाहिये ताकि वह कानून बनाने के दायित्व को समझ सकें, स्वतन्त्र मत स्थापित कर सकें और अपने कार्यव्यापार में घृणित स्वार्थरत आचरण का परिचय न दे सकें। उसे लोक सभा (House of Commons) की प्रतिष्ठा और उसकी कार्यकुशलता बहुत प्रिय थी; किन्तु वह यह भी देखता था कि प्रजातन्त्र में क्रमशः वह अकर्मण्यत्रा विकसित हो रही है जो उसका उचित उपभोग करने में बाधक बनती जा रही है और संस्कृति के उचित मूल्यों को नहीं प्रदान कर रही है। वह यह भी अनुभव करता था कि संसद के कार्य विशेष रूप से शिक्षाप्राप्त लोगों द्वारा ही सुगमता से चलाये जा सकते हैं। इसी विचार से उसके अन्य राजनैतिक विचार भी प्रभावित थे और उसके विशेष दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करते थे।

सर्वप्रथम रूप में जहाँ वह प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को मतदान देने के पक्ष में था, वहीं यह भी अनुभव करता था कि वोटों के मूल्य और महत्व समान नहीं हैं। बुद्धि, शिक्षा और उच्च स्तर के गुण अज्ञानता, मूर्खता और उदासीनता से कहीं अधिक मूल्यवान हैं। इसीलिए वह उच्च एवम् शिक्षित वर्ग के बहुयोगित मत (Plurality of Vote)

के पक्ष में था। अपने इस तर्क में वह इस सीमा तक अतिवादी मत का था कि नागरिकों को विभिन्न वर्गों और श्रेणियों में विभाजित करने की उसने एक योजना बना डाली थी जिसके अनुसार वह यह सिद्ध करना चाहता कि बहुयोगित मत (Plurality of Vote) का कौन वर्ग, कितना अधिकारी है और इस विभाजन में उसने (पेशे के आधार और शिक्षा के आधार पर) मानसिक स्तर और संस्कृति के अनुसार यह सिद्ध करना चाहा था कि यह समूह इस प्रकार के वोट का अधिकारी है और यह नहीं है। यह विभाजन उसने योग्यता और शिक्षा के आधार पर किया था। और यह सब उसने इस दृष्टि से किया था ताकि प्रजातन्त्रवाद की रक्षा हो सके और वह पतनोन्मुख होने के खतरे से बचाया जा सके। उसके मतानुसार, उच्च स्तर की बुद्धि और उच्च स्तर का चरित्र ही राज्य की रक्षा कर सकते हैं और मतदाताओं के हित को भी सुरक्षित रख सकते हैं। इस सम्बन्ध में उसने कहा है कि—"मैं अब भी इसको उचित समझता हूँ कि बहुयोगित मत (Plurality of Vote) उनको दिया जाय जो प्रमाणिक रूप से उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं भले ही वे किसी भी दल के सदस्य क्यों न हों क्योंकि इस से जन-भावना को एक नयी अनुभूति और नया टोन प्राप्त होगा।" उसको जन भावना का टोन निर्मित करना और उचित वातावरण पैदा करना विशेष महत्वपूर्ण बातें लगती थीं।

इस प्रकार शिक्षितों को अशिक्षितों के विधान से बचाने के लिए उसने उस स्थिति की भी कल्पना कर ली थी, जब शिक्षित वर्ग सम्पन्न होकर मात्र अपने हित के लिए ही कानून बनाने लगेंगे। इसीलिए उसने अपने बहुयोगित मत (Plurality of Vote) के नियम को एक विशेष प्रतिबन्ध में रखने का प्रयास किया था और यह कहा था कि—"यह योजना गरीब से गरीब नागरिक के लिए भी समान रूप से उपलब्ध हो सकेगी किन्तु उसे यह सिद्ध करना पड़ेगा कि बावजूद कठिनाइयों और असुविधाओं के वह मात्र अपनी बुद्धि-बल के आधार पर

इस श्रेणी का अधिकारी है।" अपनी इस क्षमता की प्रमाण-परीक्षा उसे स्वागत रूप में ही देनी पड़ेगी।

दूसरी बात जिसका उसने विशेष उल्लेख किया था वह पार्लियामेंट के सदस्यों के वेतन की बात थी। मिल ने इस पद्धति का निस्सङ्कोच भाव से विरोध किया था। इस विरोध करने में भी उसका मन्तव्य यह था कि संसदीय कार्य व्यवहार में कुशलता और शुद्धता दोनों का समावेश हो सके। प्रजातन्त्रवाद के हित की समस्या से प्रेरित होने के नाते उसे मजबूर होकर अपने इस कथन की सम्भावनाओं और परिणामों पर भी विचारशील होना पड़ता था। वह प्रचलित संसदीय पद्धति को सन्तुष्ट होने के नाते उसकी अवश्यम्भावी बुराइयों की कटु आलोचना करता था। इसके साथ ही वह यह भी मानता था कि संसद के सदस्यों पर किसी भी प्रकार का आर्थिक दबाव नहीं पड़ना चाहिये और चुनाव में जितना भी व्यय होता है वह राज्य द्वारा सहन करना चाहिए और उसका दायित्व सदस्यों पर नहीं डालना चाहिये।

मिल के काल में एक दूसरी समस्या बैलेट की भी थी। बेन्थम और जेम्स मिल दोनों ही बैलेट पेपर द्वारा मतदान देने के घोर समर्थक थे और इसको उपयोगितावादी सिद्धान्त का एक अंग मानते थे। जान स्टुअर्ट मिल के साथ यह बात नहीं थी। यह बैलट को भी उन्हीं सैद्धांतिक नियमों के अनुरूप देखता था जिसके माध्यम से वह राजनैतिक प्रस्तावों को देखता और आँकता था। वह उसकी आत्मा में निहित सत्य को पकड़ना चाहता था और उसकी उपयोगिता को उस नैतिक वातावरण के आधार पर आँकता था जो उसके प्रयोग से पैदा और विकसित होते हैं। इन्हीं आधारों पर उसने बैलट प्रथा की निन्दा भी की है। इस सम्बन्ध में उसका सबसे अधिक सशक्त मत यह था कि वह सिद्धांतः बैलेट द्वारा वोट देने की प्रथा को गलत मानता था। उसका मत था कि उस पद्धति के अन्तर्गत मतदाता को मत देने की बात अधिकार रूप में जान पड़ती है और उसकी दृष्टि मत देने के प्रति ऐसी विकसित होती है जैसे वह उसका अधिकार है, वह जैसे चाहे

वैसे उसका प्रयोग करे। इसके विपरीत मिल मत देने के अधिकार को एक अमानत (Trust) का कार्य मानता था, इसलिए वह मतदान को अधिकार के रूप में प्रयुक्त किया जाना गलत मानता था। उसका मत था कि मतदान देने का कार्य बड़े ही गम्भीर दायित्व का है। उसका सम्बन्ध व्यक्तिगत हित से नहीं है। वह सार्वजनिक हित का कार्य है। यदि मतदाता को मत देने के विषय में पूरी तरह से गोपनीय अधिकार दे दिया जाता है तो मिल के मतानुसार उसे वह बचन मिल जाती है जिसके अन्दर दूसरे उसकी चेतना शक्ति नहीं देख पाते और वह अपने स्वार्थों के अनुसार मतदान का प्रयोग करने का अधिकारी बन जाता है। दायित्व के प्रश्न को केवल व्यक्तिगत चेतना तक सीमित करना आचरण के अधिकार को विक्षिप्त और विकलांग बनाना है। इसमें सन्देह नहीं कि मिल की इस विचारधारा का बड़ा प्रभाव पड़ता है किन्तु दूसरी ओर यह भी प्रश्न पूछा जा सकता है कि रिशवत, धमकी, और अन्य प्रकार के विकारों से मतदाता को बचाने का बैलट को छोड़कर कौन सा दूसरा मार्ग है? वस्तुतः बैलट प्रथा उन असम्भव परिस्थितियों और विकारों को रोकने के लिए ही प्रयोग में लाई गई है। मिल ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुये यह कहा कि रिशवत और धमकी इत्यादि बुराइयाँ दिन प्रति दिन कम होती जा रही हैं और उसका यह पूर्ण विश्वास है कि बहुत थोड़े समय में ही इन बुराइयों का लोप हो जायेगा। उसके इस कथन से लोग यह अनुमान लगा सकते हैं कि इस विषय में मिल बहुत आशावादी था। जो भी हो, इस समस्या का मूल तत्व इस बात में है कि क्या अपने मत को गोपनीय ढंग से, अपनी इच्छानुसार, बिना दूसरों के मत की "परवाह" किये स्वार्थरहित होकर देना श्रेयस्कर है। या उसके विपरीत अनेक प्रकार के दबावों और आग्रहों और धमकियों के बीच (और इसी कारण से अपने इच्छा के प्रतिकूल) मत देना उचित है? मिल के बाद के राजनैतिक विवेक ने यही स्वीकार किया है कि गोपनीयता के खतरे को

स्वीकार करना अधिक उचित है क्योंकि इस खतरे की समस्त आशंकायें मात्र सैद्धांतिक हैं—यथार्थवादी नहीं।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न मताधिकार का है। मिल ने मताधिकार को वयस्कों के बीच उस सीमा तक विस्तृत करना उचित समझा था जिस सीमा तक कि उसकी शक्ति जन साधारण की मानसिक शक्तियों को विकसित करने में सहायक हो सके। बेन्थम ने यह सिद्धांत निर्धारित किया था कि मताधिकार उसी को मिल सकता है जो पढ़ सकने की क्षमता रखता हो। मिल ने इस सीमा को और भी व्यापक बना दिया था और उसने मत का प्रयोग करने का अधिकार केवल उसी को दिया था जो लिख-पढ़ सकने के साथ गिन भी सके। उसके मतानुसार मत देने का अधिकार प्रत्येक वयस्क को होना (चाहे वह स्त्री हो या पुरुष) चाहिये जो आवश्यक अवस्था का हो गया हो और टैक्स देने वाला हो—यदि नहीं देता हो तो वह भी किसी सरकारी छूट और माफी के कारण न देता हो। जिस प्रकार के मताधिकार की कल्पना उसने की वह विश्व-व्यापक (universal) तो थी किन्तु वह क्रमिक (graduated) रूप में स्वीकार की गई थी। टैक्स देने की शर्त ने इस बात की समस्या प्रस्तुत की थी कि क्रम से कम टैक्स की कौन सी रकम बाँधी जाय ताकि मत देने का अधिकार गरीब से गरीब वर्ग तक समान रूप से पहुँच सके। इस सम्बन्ध में ग्रोट (Grote) ने निश्चित प्रस्ताव प्रस्तुत किये थे जिनका अध्ययन हम अन्यत्र करेंगे।

मिल ने एक सत्ता (Monarchy) के प्रश्न पर यद्यपि अपने मत नहीं दिये हैं फिर भी उसने हाउस आफ लार्डस (House of Lords) के विषय में अपने विचार अवश्य प्रकट किये हैं। इस सभा के पक्ष को स्वीकार करते हुये सुधार के रूप में उसने उसे सेकेण्ड चैम्बर (Second Chamber) के स्थान पर प्रयोग करने का मत दिया है। यह मान कर कि इस लार्डस सभा के प्रायः सभी लोग शिक्षित होते हैं, इसलिये उसने इस सेकेण्ड चैम्बर (Second Chamber) को संसद के प्रस्तुत

होने वाले प्रस्ताव (Bills) को बनाने का कार्य देने का आग्रह किया है। उसके मतानुसार योग्यता की दृष्टि से यद्यपि लोक सभा को अन्तिम रूप से संशोधन करने का अधिकार इस सभा को दे देना चाहिए फिर भी जहाँ तक प्रस्तावों को बनाने का प्रश्न है वह सेकेण्ड चेम्बर को ही देना चाहिए।

इन विचारों से यह स्पष्ट पता चलता है कि मिल एक योग्य और व्यावहारिक विधायक के रूप में लोक शासन के खतरों के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक था और उसमें न्यायप्रियता की भावना विशेष रूप में प्रबल थी और उसकी यह प्रबल इच्छा थी कि वह नैतिकता के पक्ष को राजनैतिक विधान में उचित स्थान पर स्थापित करके अपनी योग्यता का परिचय दे। उसकी बुद्धिमत्ता का निश्चित प्रभाव भी पड़ा था और आज भी जब कभी भी चारित्रिक और भौतिक हित की दृष्टि से कोई भी राष्ट्रीय समस्या प्रस्तुत होती है तो मिल की शिक्षा की दुहाई देकर उसका आधार लिया जाता है।

———

अध्याय ११

जार्ज ग्रोट; जॉन ऑस्टिन ; एलेक्ज़ेण्डर बेन

इन थोड़े से पृष्ठों में सारांश रूप में हम उपयोगितावादियों के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और दार्शनिक विचारों से अवगत हो चुके हैं। इस सीमा के आगे हमें इस विचार की अन्य विकसित-दिशाओं का अध्ययन करना चाहिये था और हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) और सर लेसली स्टीफन (Sir Leslie Stephen) की विकासवादी धारणाओं के अन्तर्गत इस विचारधारा का रूप, एवम नव हिगेलियेनवाद (Neo Hegelianism) के अनुसार टी० एच० ग्रीन (T. H. Green) द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद का रूप, तथा हेनरी सिजविग (Henry Sidgwick) द्वारा एक दूसरी दृष्टि से प्रस्तुत किये गये रूप का भी अध्ययन करना चाहिये था। किन्तु अपने अध्ययन क्षेत्र की सीमाओं को देखते हुये बहुत से ऐसे नाम हैं जिनका उपयोग यहाँ होना सम्भव नहीं हो सका है फिर भी कुछ ऐसे नाम हैं जिनके विषय में कुछ न कुछ कहना आवश्यक है।

१—जार्ज ग्रोट—उनमें से जार्ज ग्रोट (१७९४-१८७१) का नाम जो कि ग्रीस का प्रतिभावान इतिहासकार है उल्लेखनीय है। यह अरस्तू और प्लेटो (Aristotle and Plato) की विचारधारा का कुशल अध्येयता था और एक राजनीतिज्ञ के नाते इसने १८३२ के रिफार्म बिल (Reform Bill) के पारित होने के पूर्व बहुत ही अच्छे कार्य किये थे। यह बेन्थमवादी के रूप में बड़ा विख्यात था और बेन्थम के व्यक्तिगत प्रभाव में बहुत पहले ही आ गया था। इसीलिये उसके विचार भी इसके प्रमुख राजनैतिक ग्रंथों में समान रूप से स्वतः आ गये थे।

(अरस्तू) और प्लेटो पर उसके ग्रीक विचार और राजनैतिक आन्दोलनों से सम्बन्धित लेख का ठीक उतने ही प्रतिभापूर्ण है जितने कि उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटिश फिलासोफिकल रेडिकल (British Philosophical Radical) द्वारा प्रस्तुत किये गये थे। वह एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था और साथ ही में एक राजनीति प्रधान विचारक भी था। उसका नाम विशेषकर बैलेट द्वारा मतदान (Vote by Ballot) नामक आलेख से सम्बद्ध है जिसमें उसने इसके समर्थन में सिटी आफ लण्डन (City of London) के प्रतिनिधि रूप में, संसद में (१८२३-४१) बड़े ओजस्वी भाषण दिये थे और जान स्टुअर्ट के मत से पृथक मत रखने के कारण उस से अलग हो गया था और कट्टरपंथी उपयोगितावाद के समर्थक के रूप में जाना जाने लगा था। वह मिल के इस विचार से कि भ्रष्टाचार दिनोदिन कम होता जा रहा है सहमत नहीं था और न यह ही मानता था कि संसदीय चुनाव में किसी भी प्रकार बेजा दबावों का प्रयोग किसी भी मात्रा में कम हो रहा है। इसके विपरीत वह चुनाव सम्बन्धी उत्तरोत्तर बढ़ते हुये उन समस्त गुण्डागीरी और दंगों से विक्षुब्ध था और उसे चुनावों के लिये अपमानजनक मानता था। इन्हीं प्रमाणों को लेकर वह बैलट (Ballot) के पक्ष में संसद भवन में वादविवाद किया करता था। इस विषय में उसका विषय प्रतिपादन और उसका निर्वाह दोनों ही साधिकार और काफी विषद होते थे।

गोपनीय मतदान (Secret Voting) के समर्थन के अतिरिक्त ग्रोट मताधिकार के विषय को लेकर उसके पक्ष को बलपूर्वक प्रस्तुत करना चाहता था। इस सम्बन्ध में उसने जो कुछ किया उसमें से एक विशेष बात थी। मतदाता के लिये जो टैक्स देने की शर्त लगा दी गई थी और जिसने जान स्टुअर्ट मिल के विचारों को इस विषय पर काफी उद्वेलित कर दिया था, उस विषय में जौन ग्रोट ने एक दूसरी युक्ति निकाली थी जिसके माध्यम से उसने "धीरे-धीरे मताधिकार को एक निश्चित कालान्तर के साथ प्रस्तुत किया था। निम्न वर्ग तक ले जाने की

प्रक्रिया को प्रस्तुत किया था और यह सुझाव रखा था कि हर पाँच वर्ष के बाद निम्न वर्ग के एक नये भाग को मत देने का अधिकार दे देना चाहिये और नये मतदाताओं को सम्मलित कर लेना चाहिये ताकि २० या २५ वर्ष के भीतर पूरा समुदाय उस मतदाता वर्ग में सम्मिलित होकर भाग ले सके।" उसकी यह धारणा थी कि उसके द्वारा प्रस्तावित समय गरीब मतदाता तक मत के अर्थ को समझ लेंगे और उसके विषय में काफी शिक्षित होने के नाते धनी वर्ग की बहुत-सी शंकाओं को दूर करने में समर्थ हो सकेंगे।

ग्रोट अनुभूतिवादी दर्शन (Experiential Philosophy) और उपयोगितावादी नैतिकता का बड़ा कट्टर समर्थक था और अपने बिना किसी साम्प्रदायिक (School) वर्ग में सम्मलित हुये वह उपयोगितावाद के सिद्धांत को बड़े रोचक और सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करने में दक्ष था। उसका गहन अध्ययन और स्पष्ट चिन्तन एवम् पैनी शैली ने उसको बहुत सहायता पहुँचाई थी। इन सब में से कुछ का विवरण उसके संग्रहीत लेखों में जो माइनर वर्कस (Minor Works) के नाम से विख्यात हैं मौजूद है और कुछ उसकी फ्रैगमेंन्ट्स आन ऐथिकल सबजेक्ट्स (Fragments on Ethical Subjects) (१९७६) नामक पुस्तक में संग्रहीत है।

१. जान आस्टिन—उपयोगितावादी दर्शन के दूसरे प्रमुख विचारक जान आस्टिन थे (१७९०-१८५९) जो बेन्थम के विचार दर्शन से विशेष रूप में प्रभावित थे और न्याय पक्ष (Jurist) से सम्बन्ध रखते थे। उसने कानून के दार्शनिक पक्ष को न्याय पक्ष से प्रस्तुत करके बहुत बड़ी सेवा की है और एक सत्तात्मक व्यवस्था अधिकार और दायित्व से सम्बन्धित विषयों पर और न्यायशास्त्र पर विशेष बल दिया था और भौतिक विज्ञान की भाँति न्याय पक्ष को अधिक वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने की चेष्टा की है और उसे साधारण रूप से जिस संदर्भ के साथ प्रस्तुत किया जाता है उससे पृथक सन्दर्भ का प्रतिपालन किया था। प्रकृति के क्षेत्र में तो कानून का सर्वशक्तिमान रूप में आज्ञा

मनवाना कोई अर्थ नहीं रखता किन्तु कानून शास्त्र और नीतिशास्त्र में यही प्रमुख धारणा होती है। इस क्षेत्र में एक केन्द्रीय सत्ता जो वैधानिक रूप से निर्मित और मान्य होती है वही आज्ञा प्रशासित करती है और आवश्यकता पड़ने पर उसे मनवाने में दण्ड का भी प्रयोग करती है। आस्टिन के मतानुसार चिन्तन प्रणाली में स्पष्ट धारणाओं और ठीक परिभाषाओं का होना नितांत आवश्यक है। बेन्थम और जेम्स मिल की भाँति उसकी भी प्रयुक्त होने वाले शब्दों की व्याख्या और उनकी बारीकी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उसने और विरोधों को छोड़कर मिल के उस विरोध को ही सर्वप्रथम लिया था जिस पर उसका अटूट विश्वास था और उस सम्बन्ध में उसने बहुत बलपूर्वक कहा कि समसामयिक खुला वोट देने की प्रथा सैकड़ों हजारों मतदाताओं को मताधिकार से वंचित कर देती है क्योंकि अधिकांश मतदाताओं में यह साहस नहीं है कि वह आवश्यक दबावों का खुलकर विरोध कर सकें, अतएव वह मत देने ही से इन्कार कर देते हैं। दूसरे लोग जो मत देते हैं वह अपने से अधिक प्रभावशाली व्यक्तियों के प्रभाव में आकर मतदान देते हैं और अपने स्वार्थों और व्यक्तिगत हितों के लिये अपना मत अपने से अधिक प्रभावशाली व्यक्ति के हाथ में देकर वापस चले आते हैं। चाहे वह उसका एकमत वाला मतदान हो या बहु वोट (Plural Votes) वोट हो वह सब का सब किसी अधिक प्रभावशाली व्यक्ति को सौंप कर चले आते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि लोक सभा को कभी भी जनता को पूर्ण विश्वास नहीं मिल पाता जिसके कारण प्रतिनिधि शासन सत्ता का मुख्य उद्देश्य सदैव पराजित हो जाता है। दूसरा तर्क जिसके बल पर वह विभिन्न आपत्तियों का निवारण करता था वह गोपनीय मतदान पद्धति थी। उसका यह मत था कि गोपनीय मतदान पद्धति का यह भी एक गुण है कि वह उस व्यक्ति को जिसने बेजा दबाव में पड़कर अपने विश्वास के विपरीत किसी को मतदान देने का वचन दे दिया है उसे पुनः अपने झूठे वचन तोड़कर सत्य को पालन करने का अवसर देता है। उसका मूल अवस्थान (Position)

यह है कि, उपर्युक्त प्रकार की स्थितियों में दो परिस्थितियों में से किसी एक का प्रभाव अवश्य पड़ता है और इसके भी दो रास्ते हैं—प्रथम तो यह कि व्यक्ति अपने विश्वास के अनुसार अपना मत देकर अपनी व्यक्तिगत प्रतिज्ञा का पालन करे और दूसरा यह भी हो सकता है कि वह दूसरों के आधार पर वोट देकर अपनी व्यक्तिगत प्रतिज्ञा को छोड़ दे। किन्तु चूँकि अपने मत के विरुद्ध मत देना जनता की अमानत का खंडन करना है जब कि गोपनीय मत विधि के अनुसार मत देने का प्रयास केवल व्यक्तिगत प्रतिज्ञा के खण्डन तक सीमित है क्योंकि व्यक्तिगत प्रतिज्ञा केवल उस व्यक्ति तक सीमित है जिसे वह अधिकार मिला है। यद्यपि इन दो परिस्थितियों में से दोनों ही निन्दनीय हैं फिर भी इन दोनों में से जो कम विषम हो सकता है वह जनता की व्यक्तिगत अपेक्षा के प्रति अनुत्तरदायी होना अधिक श्रेयस्कर है। उसका यह तर्क उपयोगितावादी के अनुसार अकाट्य था।

ग्रोट के बैलट सम्बन्धी ये विचार १८३१ में प्रकाशित एसेन्शल्स आव पार्लियामेन्टेरी रिफार्म नामक पुस्तिका में संग्रहीत है और तत-सम्बधी वक्तव्य जो उसने १८३३ से १८३९ के बीच संसद में दिये थे १८७३ में प्रकाशित माईनर वर्क्स (Minor Works) नाम पुस्तक में सग्रहीत हैं।

भाव स्थितियों को स्पष्ट करने पर विशेष बल दिया था और उससे विशेष रस भी लेता था। उसके मतानुसार एक कानूनदाँ के रूप में उसका प्रमुख योग बहुत सी ग्रन्थियों को मुक्त करने में रहा है। इस प्रयास में उसने उपयोगितावाद विचार-धारा के अन्तंगत बहुप्रयोगित शब्द 'अनुभूति' (Experience) को व्यापक सन्दर्भ देकर एतिहासिक तत्वों को भी सम्मिलित कर लिया था जो कि किसी भी दशा में व्यक्ति-नुभूति से कम मूल्यवान नहीं कहा जा सकता। ऐसा करके उसने उस ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) के प्रयासशील भावना को स्पष्टता प्रदान की थी जो अन्य विज्ञान क्षेत्रों में, राजनीतिक

सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और मानसिक अध्ययन के लिए अप्रासंगिक माना जाता था।

इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण उसका शासन-सम्बन्धी सिद्धांत निरूपण था। वह इसको भली-भाँति जानता था कि शासन व्यवस्थायें पहले ही से अपने पूर्ण प्रौढ़ता के साथ नहीं जन्मतीं वरन् वह क्रमिक रूप में विकसित होती हैं और उनका विकास भी राजनैतिक शासन सत्ता की उपयोगितावादी धारणा के माध्यम से ही तब सम्भव हो पाता है जब समुदाय का बहुमत अराजकता की अपेक्षा नियन्त्रित शासन सत्ता को स्वीकार कर लेती है। उस समय किसी भी प्रकार के सामाजिक अनुबन्धन (Social Contract) का जन्म नहीं हुआ होगा जैसा कि बहुत से राजनैतिक दार्शनिक राजनैतिक समाज के विकास सम्बन्धी कल्पनाओं को मानते हैं। उस समय मानव अधिकार को ध्यान में रखकर कोई व्यवस्था नहीं बनाई गई होगी वरन् मनुष्य का ध्यान उपयोगिता पर ही रहा होगा।

आस्टिन मुख्यतः उपयोगितावादी न्यायशास्त्री के रूप में ही जाना जाता है। उसका मुख्य कार्य बेन्थम और जेम्स मिल की तत्सम्बन्धी विचार श्रृङ्खला को पूरा करने में ही है। वह पेशेवर नहीं था और न प्रजातन्त्र के लिए उसके अन्दर किसी खास प्रकार का जोश था। हाँ, वह निश्चय ही रूढ़िवादी (Conservative) था और संसद की व्यवस्था में किसी भी प्रकार का सुधार प्रस्तुत करने का विरोधी था। न्यायशास्त्री के रूप में उसका बहुत उच्च स्थान है और उसकी दि प्राविंस आव जूरिस्प्रूडेंस डिटरमिण्ड नामक ग्रन्थ (१८३२) युगांतकारी और प्रमाणिक माना जाता है।

३. एलेक्जेण्डर बेन—इस श्रृङ्खला में तीसरा नाम एलेक्जेण्डर बेन (Alexander Bain) (१८१८-१९०३) जो जान स्टुअर्ट मिल और ग्रोट दोनों ही का बड़ा घनिष्ठ मित्र और परामर्शदाता था। उन दोनों के साथ उसने सम्पर्कवादी और उपयोगितावादी विचार-धारा को प्रसारित करने में विशेष योग दिया था। यद्यपि वह उस प्रकार का राजनैतिक

व्यक्ति नहीं था, इसीलिए वह राजनैतिक और आर्थिक विषयों पर कोई भी पुस्तक नहीं लिख सका। यह होते हुए भी वह अपने समय का बड़ा विद्रोही दार्शनिक (Philosophical Radical) था। राजनीति शास्त्र से सम्बन्धित उसके विचार 'लाजिक' नाम के ग्रंथ की पाँचवीं प्रति में बड़े विवेकपूर्ण ढंग से व्यक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त उसका स्कूल और कालेज में पढ़ाये जाने वाले मनोविज्ञानशास्त्र, नीतिशास्त्र और शिक्षाशास्त्र में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। उसने शिक्षा सम्बन्धी सिद्धांतों में सैद्धांतिक पक्ष के साथ-साथ अभ्यास पक्ष को भी समान रूप से महत्वपूर्ण स्थान दिया है। वह पहला व्यक्ति था जिसने शिक्षा को दर्शन प्रधान बनाने की अपेक्षा सुगम शिक्षात्मक रूप देने का प्रयास किया था। उसके ऐसे विचार इसलिए थे क्योंकि वह बीस वर्ष तक (१८६० से १८८०) तक एबरडीन विश्वविद्यालय (Aberdeen University) में लाजिक और अंग्रेजी का अध्यापक रहा था। अंग्रेजी शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं पर उसका ध्यान इसीलिए सर्व प्रथम गया और उसने अंग्रेजी निबन्ध (English Composition) के विषय पर महत्वपूर्ण ढंग से विचार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने अंग्रेजी व्याकरण और अलंकार पर कई छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित कीं। शिक्षा के विषय को वैज्ञानिक ढंग से उसने अपनी दूसरी पुस्तक 'ऐजूकेशन ऐज़ ऐ साइन्स' (Education as a Science) में व्यक्त किया था। इस पुस्तक ने उत्तर स्काटलैण्ड को जो कि उस समय के शिक्षा केन्द्रों में से था, विशेष प्रभावित किया था। किन्तु यह सब होते हुए उसकी ख्याति एक दार्शनिक और नीति विचारक के रूप में ही अधिक है। जेम्स मिल उपयोगितावादी दर्शन का प्रमुख मनोवैज्ञानिक विचारक माना जाता है ठीक उसी प्रकार बेन को उसका सच्चा उत्तराधिकारी भी माना जा सकता है। इसी प्रकार जैसे जान स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद के दर्शन को व्यापक अर्थ दिया है ठीक उसी प्रकार बेन ने उसे वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

बेन द्वारा प्रतिपादित मनोविज्ञान का रूप, अन्य उपयोगितावादी

विचारकों की भाँति विशुद्ध सम्पर्कवादी था और उसका प्रमुख अंग 'अनुभूति' थी। वह समसामयिक भौतिक और शारीरिक विज्ञान से बहुत प्रभावित था। इसलिए वह मानसिक शक्ति को शारीरिक सापेक्षता अर्थात् मस्तिष्क और स्नायुविक विधान के साथ अध्ययन करने में सफल भी हुआ था। बेन के पहले मनोविज्ञान का अध्ययन उस रूप में नहीं हो सकता था और न ही ऐतिहासिक पद्धति के अन्तर्गत मानसिक शक्तियों और प्रक्रियाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास ही किया गया था। चूँकि उसका ज्ञान विभिन्न वैज्ञानिक क्षेत्रों में (भौतिक, गणित और जीव विज्ञान में) काफी गहरा था इसीलिए वह अपने विषय को कुशलता एवम् सरलता के साथ विज्ञान के आधार पर व्यक्त करने में सफल तो होता ही था साथ ही वह मनोविज्ञान को महत्त्वपूर्ण सांकेतिक ढंग से भी प्रस्तुत करता था। यह तत्व उसके दो ग्रंथों में विशेष रूप से पाये जाते हैं, पहला ग्रंथ— दि सेन्सेज़ एण्ड इन्टेलेक्ट (The Senses and the Intellect) था (जो कि १८५५ में प्रकाशित हुआ था) और दूसरा ग्रंथ दि इमोशन्स एण्ड विल (The Emotions and Will) था जो कि १८५९ में प्रकाशित हुआ था। उसकी विशेषता यह है कि वह ज्ञान के विकास स्रोत का विवेचन करने में से वेदना से प्रारम्भ करके ज्ञान की संवेदना और शारीरिक संवेदना को मुख्य स्थान देता है और शरीरिक स्वाभाविका और सहजता (Spontanaeity) को बाह्य उत्तेजक (Stimulas) के अधीन न मानकर उन्हें समस्त स्नायुविक (Nervous System) केन्द्रों की पूर्णता से विकसित हुआ मानता है। वह इस ज्ञानेन्द्रीय संवेदना को अतिरिक्त शक्ति (Surplus Energy) का स्खलन मानता है जो सतत गति चेतना को प्रेषित करके सुख, दुख, सुविधा, असुविधा का बोध कराती हैं। इस समस्त आनन्दवर्द्धक और पीड़ाजनक अनुभावों में इच्छा शक्ति (Will) का जन्म होता है जो निर्णय, चयन और तिरस्कार के विवेक को जन्म देती है क्योंकि वे संवेदनायें जो सुख और आनन्द की वृद्धि करती, हैं उनको मनुष्य सुरक्षित विकसित करता है और जो पीड़ा उत्पन्न करती हैं उनसे बचता है, उन्हें त्यागने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार प्रकृति

(Instinct) का भी बेन के विचार दर्शन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। वह इसे मानव व्यवस्था का प्राथमिक तत्व मानता है और समस्त भौतिक, बौद्धिक और अनुकरणात्मक उपलब्धियों का प्रतिकेन्द्र मानता है। एक दी हुई संवेदना, प्रवृत्ति और स्वगन्यात्मक पद्धति एवम् दी हुई धारणा शक्ति और निर्णय प्रवृत्ति (स्वीकृति और अस्वीकृति) के अन्तर्गत बेन ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि यह सम्पर्क के आधार पर आचरित होती हैं और समानता तथा निकटता के आधार पर हमारी बाह्य पदार्थ और देश काल के बोध-ज्ञान की जटिल धारणाओं को मानसिक स्तर पर प्रामाणित करती है। यह हमारी बौद्धिक शक्तियों को ही नहीं वरन् रागात्मक अनुभूतियों को भी अनुशासित करती है। बुद्धि, भावना, इच्छा ये सब सम्पर्क के अन्तर्गत आती हैं और मात्र सम्पर्कवादी सिद्धांत के अनुसार ही इनकी व्याख्या की जा सकती है। पूर्व स्थापित रूप में केवल चेतना या मानसिक जागरूकता ही स्थायी होती है। इसीलिये बेन ने चेतना की व्याख्या सापेक्ष दृष्टि के अनुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। विश्वास (Belief) के सम्बन्ध में उसने जो मत व्यक्त किए हैं वह भी उल्लेखनीय हैं। अधिकांश मनोविज्ञान के विद्वानों ने विश्वास को बुद्धि (Intellect) का अंश माना है। बेन ने बुद्धि की इच्छा (Will) के अन्तर्गत स्वीकार किया है और यह सिद्ध किया है कि विश्वास मे निहित कुछ कर डालने की तत्परता इच्छा (Will) का ही रूप है। किन्तु बाद में उसने अपनी इस धारणा में कुछ परिवर्तन भी किये थे और अपनी धारणाओं में भी संशोधन किया था। वह यह मानकर चलता है कि मनुष्य की अभिजात्य सहजता में हर वस्तु के प्रति विश्वासित होने की तीव्र प्रवृत्ति है। कृपिण्णता और शंका उसी समय उत्पन्न होते हैं जब हमें जीवन में रुकावटों का सामना करना पड़ता है और अनेक प्रकार के गतिरोध आ उपस्थित होते हैं। "इस दिशा में पुनरावृत्ति (Repetitions) से कोई अन्तर नहीं उपस्थित होता। दस बार एक ही प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने से विश्वास पर वही प्रभाव पड़ता है जो पचास बार उत्पन्न से होता है। हमें अपेक्षाकृत दस सुदृढ़ अनु-

भूतियाँ पचास पक्ष की ओर एक विपक्ष की अनुभूति से अधिक प्रभावित करती हैं।" अपने इस तर्क में वह जेम्स मिल के विचार से पृथक मत स्थापित करता सा प्रतीत होता है। मिल के अनुसार विश्वास अविभाज्य सम्पर्कों से उत्पन्न होता है। बेन के मतानुसार विश्वास एक ऐसी क्रमिक अनुभूति से उपजता है जो सदैव विरोधों से वंचित रहती है। अविभाज्य सम्पर्क कई पुनरावृत्तियों द्वारा उत्पन्न होता है। विश्वास विरोध भाव का परिणाम होता है।

किंतु सम्पर्कवादी मनोविज्ञान को प्रस्तुत करने के अतिरिक्त बेन की ख्याति एक उपयोगितावादी नीतिज्ञ के रूप में अधिक है। उसने आनन्द और पीड़ा की प्रकृति का विवेचन करके आत्मतुष्टि और उत्तेजन प्रवृत्ति (Self-satisfaction and Stimulation) के सिद्धांतों की व्याख्या प्रस्तुत की थी। इससे भी आगे आनन्द का पूर्ण और तीव्र विवेचन पीड़ा पर यह सिद्ध किया है कि आनन्द पीड़ा के अतिरिक्त सुख का अंश है (The surplus of pleasure over pain) जिसे मानसिक सम्भावनायें अधिक से अधिक मात्रा में ग्रहण करती हैं और वेदना की अधिकाधिक सम्भावनाओं को नष्ट करने में भाग देती है। उपयोगितावादियों के लिए बेन का यह मत बड़ा महत्वपूर्ण था। इसके माध्यम से प्रत्येक विषय क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक दृष्टि विकसित होना सरल और सुगम हो गया और उसके अनुसार मानव की वृहद जन्मजात सम्भावनाओं को व्यापक धरातल पर रखकर मूल्यांकन करने की दृष्टि मिल सकी। (जिसमें कुटिलता में आनन्द प्राप्त करने की प्रवृत्ति जिसको बेन ने मानव स्वभाव का मूल अंश माना है और यह कहा है कि इस प्रवृत्ति के माध्यम से मनुष्य में क्रियाशीलता की स्फूर्ति तीव्र रूप में विकसित होती है भी शामिल है) इसके साथ सम्पर्क-शक्ति का भी अतिरेक इसमें दिखलाई पड़ता है। इस व्याख्या का एक परिणाम यह भी हुआ कि इसमें शान्तिपूर्ण ढंग और संतुलित बुद्धि के आधार पर मनुष्य के विभिन्न कर्म-कलापों को सापेक्ष|गुण-दोष के अनुकूल देखने की क्षमता प्राप्त हो सकी। इस व्याख्या ने मानव प्रकृति का सहानुभूत्यात्मक प्रवृत्ति को

आनन्द का मूल स्रोत माना है किंतु यह भी स्वीकार किया है कि बहुधा यही सहानुभूति की प्रवृत्ति दयालु व्यक्ति में पीड़ा और वेदना का स्रोत भी बन जाती है । इसीलिये बेन ने व्यक्तिगत रूप से व्यक्ति के जीवन में नियमानुकूल जीवन बिताने और पद्धति के अनुसार आनन्द की पूर्ण उपलब्धि के प्रति आग्रह किया है । बेन स्वयम् बहुत नियमबद्ध जीवन व्यतीत करता था और जिस व्यवस्थापूर्ण ढंग से वह नियोजित जीवन का निर्वाह करता था उसके अनुसार ही उसने उपर्युक्त सिद्धांत का प्रतिपादन किया था ।

इसके अतिरिक्त बेन ने जो दूसरा महत्वपूर्ण उपयोगितावादी विचार-धारा को प्रदान किया वह यह था कि उसने उपयोगितावादी नैतिकता को उस व्यर्थ की पीड़ाजनक एवम् विषादपूर्ण स्थिति से मुक्ति दिला दी थी जो कि आनन्दवादी सिद्धांत के नाते उसे प्रति क्षण वहन करनी पड़ती थी । बेन्थम को इस प्रकार की आलोचनाओं से बड़ा दुःख और असंतोष हुआ था । जॉन स्टुअर्ट मिल ने यद्यपि उदासीन और निरपेक्ष आनन्द भावना को प्रतिबोधन और अनुभूति के अन्तर्गत माना था, फिर जी उससे तुष्टि नहीं मिली थी । बेन इन सबसे पृथक आनन्द की भावना किसी भी रूप में छिपी हुई स्वार्थप्रियता नहीं मानता था। इसके विपरीत उसने अपनी विचार पद्धति से मानव प्रकृति के स्वतंत्र और प्रभावपूर्ण अस्तित्व को स्वीकार किया था वह कहता है कि "जहाँ तक मैं उदासीन भावना का मूल्यांकन कर पाता हूँ, वे आनन्द उपलब्धि से सर्वथा भिन्न होती हैं और पीड़ा से बचने की प्रवृत्ति रूप में व्यक्त होती हैं । वे हमें आनन्द की हत्या करके बिना किसी प्रयोजन के पीड़ा स्वीकार करने की ओर ले जाती हैं । मुझे ऐसा लगता है कि हमें इस विरोधाभास का साक्षात्कार करना चाहिये क्योंकि यह सत्य है कि मनुष्य में ये चालक शक्तियाँ होती हैं जो हमें आनन्द से वंचित करके उसके विरुद्ध करने की प्रेरणा देती है । मात्र इतना कह देना ही पर्याप्त नहीं होगा कि चूँकि हम अमुक कर्म करते हैं इसलिए हमारे आनन्द की गति भी उसी के अनु-कूल होती है । इस प्रकार की चिंतनविधि समस्या में आवश्यक उन्नताभाव

पैदा कर देती है।...मात्र यही एक तरीका है जो हमारी प्रकृत्यानुसार किसी भी शुभ कर्म और उदार व्यवहार का मूल्यांकन कर सकता है। यदि मनुष्य आत्मोत्सर्ग की भावना से प्रेरित होकर उदात्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है और उसे यह अनुभव हो जाता है कि वह कुछ ऐसा कर रहा है जो उसके लिए नया है और फिर भी उसे कुछ उपलब्ध नहीं हो पाता तो लोग उसकी भावना और उसके आचरण पर कुछ नहीं कहेंगे क्योंकि वह कुछ भी त्याग करने की स्थिति में नहीं रहेगा। किंतु यदि इस भाव स्थिति में कुछ खोने के बजाय यदि वह कुछ पा लेता है और उसको त्याग करने की स्थिति में होता है तो वह वास्तव में प्रशंसनीय है और वह हमारे अनुदान को भी त्याग सकता है।

इस प्रकार बेन हो ने आत्मा (Conscience) की भी उचित परिभाषा देने की चेष्टा की है। आत्मा से सम्बन्धी विषय में सबसे अधिक खतरनाक स्थिति उस समय होती है, जब आधार रूप में वह भावनाओं पर प्रशासन करना चाहती है। बेन इस प्रवृत्ति को व्यक्ति के सामाजिक चरित्र असम्बद्ध करके देखता है और राज्य के अनिवार्य अनुशासन एवम् अवज्ञा की स्थिति में दण्ड-विधान के नियमों की सापेक्षता में प्रस्तुत करता है। उसके मतानुसार यद्यपि इच्छाशक्ति, सहानुभूति और प्रमुख रागात्मक भावनायें नैतिक स्तर पर ही व्यक्त होती हैं, किंतु इनका अन्तिम आचरण शिक्षा और सत्ता (Education and Authority) द्वारा निर्धारित होता है क्योंकि ये ही वे तथ्य हैं जिन पर नैतिक भावना, इच्छा, सहानुभूति और इनके जटिल रूपों को साधारण व्यवहार से पृथक भिन्न संदर्भ प्रदान करती है। उसकी नैतिक शिक्षा सम्बन्धी विचार ईमोशन्स और विल (Emotions and Will) और मेन्टल ऐण्ड मोरल साइंस (Mental and Moral Science) नामक पुस्तकों में आंशिक रूप में संग्रहीत है।

इस संक्षिप्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपयोगितावादी विचारकों में बेन का एक निश्चित और स्पष्ट स्थान है। उसने इस विचार दर्शन से सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक और नैतिक सिद्धांतों

को सशक्त और विकसित करके दार्शनिक क्रांतिकारियों (Philosophical Radicals) के राजनैतिक विचारों को सुदृढ़ किया है। यही नहीं उसके नियमों को अधिक स्पष्ट रूप में वैज्ञानिक ढंग से उद्‌घाटित करके विशेष-कर शिक्षा के क्षेत्र में आचरण योग्य बनाया है।

जिन उपयोगितावादी विद्रोहियों (Utilitarian Radicals) के विषय में यहाँ अध्ययन किया गया है, उनके विचार और कृतित्व के प्रति इंगलैण्ड सदा ऋणी रहेगा। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उनके विचारों ने बड़ी उत्तेजना पैदा की थी जिसका परिणाम यह था कि शिक्षालयों में, सक्रिय राजनीति में, सामाजिक सुधार और उपयोगी विधायकों से सम्बन्धित आंदोलनों में मनोवैज्ञानिक और नैतिक स्तर पर प्रश्नों के निराकरण करने की प्रवृत्ति बड़ी तीव्र हो गई थी और प्रत्येक स्थान पर इन विषयों को लेकर इतनी तीव्रता के वाद-विवाद होते रहते थे कि जिनकी कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उन सबका लाभ आज अनुभव हो रहा है। जिस उत्साह और भावना को उन विचारकों ने उस समय प्रतिष्ठित किया था आज भी उनके आधार पर कार्य हो रहा है और अधिकांश सामाजिक और राजनैतिक कार्य आज भी उन्हीं इंगित संकेतों के आधार पर परिचालित हो रहे हैं। यहाँ यह सत्य है कि सबके विवेक ने उनमें से बहुत कुछ काटा-छाँटा है, बहुत कुछ विकसित किया है किंतु जिन अन्यायों के प्रति उपयोगितावादी विचारकों ने आवाज उठाई थी और जिस प्रकार उन्होंने देश की गरीब जनता एवम् प्रताड़ित वर्गों का पक्ष प्रस्तुत करके मानव-कल्याण और मानव-मुक्ति के लिए सक्रिय निष्ठा व्यक्त की थी, वह आज भी स्पष्टतः दिखलाई पड़ती है। यही नहीं संसार में कोई भी इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि ये विचारक ही वे अग्रगण्य चिंतक थे जिन्होंने सर्वप्रथम किसी भी राजनैतिक मतवाद को वैज्ञानिक ज्ञान और मानव प्रकृति के विश्लेषण तत्त्वों पर आधारित करने का आग्रह प्रस्तुत किया था और इस बात पर बल दिया था कि मानसिक और चारित्रिक स्तर पर मानव प्रकृति जिस प्रकार कार्य करती है उसे उसी प्रकार स्वीकार किया जाय और उसके आधार पर ही

मानव-भावनाओं को क्रियाशीलता का स्रोत माना जाय। यही नहीं उन्होंने इसका भी आग्रह किया था कि उनकी आर्थिक अनुरक्तियों का भी परीक्षण किया जाय और उनके व्यावहारिक निष्कर्षों को न्यायशास्त्र में स्थान दिया जाय। उन्होंने अपने सिद्धांत को क्रमशः विकसित किया और उस मत के प्रत्येक विचारकों ने उस सिद्धांत दर्शन में अपने योग की स्थायी और मूल्यवान कड़ी जोड़ने का प्रयास किया। प्रगति उनका मूल सिद्धांत था और स्वाधीनता के प्रति उनका उत्साह एवम् सार्वजनिक हित की कामना उनको सदैव नयी प्रेरणा स्फूर्ति प्रदान करती रही। यही वह देन है जिसको आज के युग ने उत्तराधिकारी के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने संसार को कोई पूर्ण दार्शनिक पद्धति नहीं दी है किंतु उन्होंने निश्चय कुछ बड़े सतर्क और पारिभाषित नियमों की स्पष्टता अवश्य प्रदान किया है जिनकी कसौटी पर किसी भी फल को आँका और कसा जा सकता है और जो काफी समय तक अनन्त लाभप्रद तथ्यों को प्रकाशित करने में सहायक होगा। सुधार करने की व्यग्रता में उन्होंने कभी-कभी बड़े उग्र रूप से किन्हीं विचारों का खण्डन किया है और ऐसा करने में उन्होंने परम्परा, लोकाचार और जनमत की भी परवाह नहीं की है। यह बात भी सत्य है कि उनकी अपनी त्रुटियाँ थीं और अपनी असफलताएँ थीं किंतु उनकी दृष्टि सदैव भविष्य की ओर थी। उनका मार्ग जनमत की भाँति प्रगति-शील था और जैसा कि जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी डायरी के एक वाक्य में लिखा है—"जनमत की प्रगति ठीक उस व्यक्ति की गति की भाँति है जो किसी पहाड़ पर बड़े ही घुमावदार मार्ग से ऊपर जाता हुआ दिखलाई पड़ता है और जिस पर चलते-चलते कभी-कभी वह गलत दिशाओं में भटक जाता है और कभी-कभी ठीक दिशाओं में अग्रसर होता है—किंतु हर दशा में वह ऊँचाई की ओर ही बढ़ता जाता है।"

BIBLIOGRAPHY

By Sir Ernest Barker, Litt.D., D.Litt., LL.D.

A. THE WRITINGS OF THE UTILITARIANS

1. *The Works of Jeremy Bentham*, published by his executor, J. Bowring, 11 vols. 1838—43. Besides this general *corpus*, the following editions of particular works may by consulted :

   Comments on the Commentaries [of Blackstone], edited with an introduction by C. W. Everett, 1928.

   Fragment on Government, edited with an introduction by F. C. Montague, 1891.

   Theory of Legislation, edited with an introduction and notes by C. K. Ogden, 1931.

   Theory of Fictions, edited with an introduction by C. K. Ogden, 1932.

2. There is no collected edition of the works of James Mill. His most important writings on Utilitarianism are :

   Elements of Political Economy, 1821.

   Essays on Government, Jurisprudence, &c., 1828 (The *Essay on Government* was reprinted, with an introduction by Sir Ernest Barker, in 1937).

   Analysis of the Phenomena of the Human Mind, 1829.

   A Fragment on Mackintosh, 1835.

3. The most important writings of J. S. Mill are :

   A System of Logic, 1843.

   Principles of Political Economy, 1848.

   Essay on Liberty, 1859.

   Dissertatians and Discussions, 1859-75.

   Considerations on Representative Government, 1861.

   Utilitarianism, 1863.

   An Examination of Sir W. Hamilton's Philosophy, 1865.

   Inaugural Address at St. Andrews, 1867.

   Autobiography (of particular importance), 1873, and the posthumous *Essays*, 1874.

Letters, edited, in 2 volumes, by H. S. R. Elliot, 1910. A volume published by C. Douglas, entitled *The Ethics of John Stuart Mill*, 1897, contains important passages from Mill's writings, with introductory notes.

4. D. Ricardo's works were edited, with a notice of the life and writings of the author, by J. R. McCulloch, 1846.

5. John Austin's *Lectures on Jurisprudence* were edited by R. C. Campbell, 1869-85.
W. Jethro Brown's *The Austinian Theory of Law*, 1906, contains reprint of some of the main lectures and of the *Essays on the Uses of Jurisprudence*, with good critical notes and a valuable excursus.

3. George Grote's *Minor Works* were published, with critical remarks, by Alexander Bain, 1873.

7. In regard to the later development of Utilitarianism, mention may be made of the writings of Alexander Bain (*The Emotions and the Will*, 1859, and the *Autobiography*, 1904), and of the writings of Henry Sidgwick (*The Methods of Ethics*, 1874 : *The Principles of Political Economy*, 1883 : *The Elements of Politics*, 1891).

B.—BOOKS ON THE UTILITARIANS

The best general works are the following :

1. Sir Leslie Stephen. *The English Utilitarians*, 3 vols., 1900 (the fullest account of the school, written with sympathy, understanding and scholarship. See also his *History of English Thought in the Eighteenth Century*, 2 vols., 2nd ed., 1881).

2. Elie Halevy. *The Grawth of Philosophic Radicalism*, English Translation, 1928 (the most philosophic and fundamental study of 'the Westminster philosophy'), and *Histoire du Peuple Anglais au XIXe Siecle*, Vol. I, 4th edition, 1930 (especially third book, on *Les Croyances et la Culture*). Good bibliographies are attached to both of these books : the bibliography attached to the first, by C. W. Everett, deserves especial mention.

3. A. V. Dicey, *Law and Opinion in England*, 2nd ed., 1914 (contains a study, by a master of English Law, of the effects of Utilitarianism on English law and politics).

4. Alexander Bain. *James Mill, a Biography* and *John Stuart Mill, a criticism with personal recollections*, both published in 1882, are both of peculiar intimacy and importance.

5. John Grote. *An Examination of the Utilitarian Philosophy*, 1870. (A discussion of Utilitarianism by the brother of George Grote, who was professor of moral philosophy at Cambridge.)

6. Coleman Phillipson. *Three Criminal Law Reformers*, 1923. (The reformers are Beccaria, Bentham and Romilly.)

7. A. Seth Pringle-Pattison. *The Philosophic Radicals*, 1907.

8. *The Dictionary of National Biography*. Articles on Bentham, the two Mills, Ricardo and Romilly.

Among writings which deal specifically with Bentham, the following may be noticed :

1. C. W. Everett. *The Education of Jeremy Bentham*, 1931 (New York).

2. C. K. Ogden. *Jeremy Bentham, 1832-2032* (Centenary Lecture), 1932.

3. Graham Wallas, articles on Bentham in the *Political Science Quarterly*, March 1923, and in the *Contemporary Review*, March 1926 : see also his *Life of Francis Place*, 2nd ed., 1918.

Among the contemporary writings which deal with the Utilitarians, the following may be noticed :

1. Lord Macaulay. Articles in the *Edinburgh Review*, March, June and October, 1829.

2. Sir James Mackintosh, *Dissertation on the Progress of Ethical Philosophy*, 1930.